मरणोत्तर

सुरेश ह. जोशी

अनुवादक : – डॉ. बंसीधर

गुलाममोहम्मद शेख एवं भूपेन खख्खर को.

..... the novella is based on a single situation and—on the level of plot and characters—remains there. It does not claim to shape the whole of social reality, nor even to depict that whole as it appears from the vantage point of a fundamental and topical problem. Its truth rests on the fact that an individual situation—usually an extreme one—is possible in a certain society at a certain level of development, and, just because it is possible, is characteristic of this society and this level. For this reason the novella can omit the social genesis of the characters, their relationships, the situations in which they act. Also for this reason, it needs no agencies to set these situations in motion and can forgo concerete perspectives. This peculiarity of the novella, which to be sure permits an infinite internal variety from Beccaccio to Chekhov, enables it to appear historically both as a forerunner and rearguard of the great forms; it can be the artistic representative of the Not—Yet or of the No—Longer, of a totality which can be portrayed

—Georg Lukacs

Yet the verdict was passed long ago :
On the black background of this still-life someone has blackly written
in the luminous ink of inevitability,
our common ordinary indifferent daily benevolent
death.

—Antonin Bartusek

Only death is there in the morning light and the morning is midnight and yourself forgotten, only the gulf is there....

—Malcolm Lowry

....*what does literary success mean ?* To be condemned by persons who have not read his works and to be imitated by persons devoid of talent There are only two kinds of literary glory that are worth winning but the writer who wins either will never know One is to have been the writer, perhaps a quite minor one, in whose work some great master generations later finds an essential clue for solving some problem; the other is to become for someone else an example of the dedicated life.

—W. H. Auden

A Work of art produces an impression. If that impression is definable and capable *of being classified. It is 'finished'; it can be relegated to a* category, 'shelved.' For it to last, to achieve a certain intensity and a certain aesthetic effect, it must haunt the memory, must be hard to define, impossible to summarize, and of such a nature that nothing I do can exhaust its efficacy.

—Paul Valery

प्रकाशक —	बुटाला प्रकाशन नरसिंहजी की पोल के सामने, महात्मा गाँधी रोड, बड़ौदा–३९०००१.
मुद्रक —	श्री-ए. एसोसिएटस, लक्ष्मी एस्टेट, बहुचराजी रोड, बड़ौदा–३९०००१.
प्रतियाँ —	७५० (प्रथम आवृत्ति)
मूल्य —	१०/– रु.
आवरण तथा सज्जा —	शेख गुलाम मोहम्मद

मेरी ओर से —

मूर्धन्य समीक्षक एवं रचनाधर्मी श्री सुरेश जोशी का नाम पिछले करीब दो दशकों से गुजराती साहित्य में बहुचर्चित रहा है. उन्होंने अपनी अप्रतिम प्रतिभा एवं सतत साहित्य-साधना से गुजराती साहित्य की शिराओं में नये रक्त का संचार कर उसमें पर्याप्त जागृति पैदा की है. उनके साहित्यिक प्रत्ययों, प्रतिपत्तियों, अभिनव कला-दृष्टि तथा भाषिक-संरचना सम्बन्धी विचारों ने गुजराती साहित्य को सर्जन के नये क्षितिजों तक ले जाने में जिस महत् भूमिका का निर्वाह किया है वह अत्यंत ही प्रेरक और श्लाघनीय है. सन् १९५६ ई० में अपने पहले कहानी संग्रह 'गृह प्रवेश' के माध्यम से उन्होंने साहित्य-क्षेत्र में पहला कदम रखा था और तब से आज तक वे एक जागरूक साहित्यकार के रूप में अपने रास्ते पर अविराम गति से आगे बढ़ रहे हैं. इस समय उन्हें आधुनिक गुजराती साहित्य के सशक्त हस्ताक्षरों में से एक होने का सम्मान प्राप्त है.

स्वतंत्रता प्राप्ति के कुछ वर्ष पूर्व से ही गुजराती में साहित्यिक गतिरोध की प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होने लगी थीं. कालान्तर में ये प्रवृत्तियाँ विकास पाकर अधिकाधिक गहराती गईं और इनके प्रभाव की सीमाएँ इतनी व्यापक हो गई कि जिसके कारण गुजराती साहित्य गतिशून्य होकर एक चौखटे में सिमट कर रह गया. उसमें सर्जन की नूतन संभावनाएँ लगभग समाप्त-सी हो गई और रह-रह कर पुनरावर्तन के दोष पैदा होने लगे थे. श्री सुरेश जोशी का यह प्रवेश यहाँ इसलिए भी महत्वपूर्ण हो जाता है कि उन्होंने इस स्थिति के प्रति अपने बदले हुए तेवरों के साथ उस चौखटे पर ऐसा मर्मान्तक प्रहार किया कि वह हमेशा के लिए चरमरा

गया. यहीं उन्होंने सर्जन की नई दिशाओं की ओर संकेत किया तथा मुक्त चिंतन के द्वार खोलकर लेखकों एवं पाठकों को नई प्राणवायु में साँस लेने की प्रेरणा दी. 'गृहप्रवेश' के 'किंचित्' और इसकी कहानियों की रचना-प्रक्रिया में इसी प्राणवायु की धड़कनें सुनाई पड़ रही हैं. यही कारण है कि इस संग्रह के प्रकाशन ने उस समय गुजराती साहित्य में काफी हलचल पैदा कर दी थी. 'किंचित्' के अन्तर्गत श्री सुरेश जोशी ने कहानी के स्वरूप एवं शिल्प पर तो गहराई से विचार किया ही है, पर अपनी स्वतंत्र रचना-दृष्टि और भाषिक-प्रयोगों पर भी अत्यंत ही मार्मिक उद्गार व्यक्त किये हैं.

अपनी इस पहली ही साहित्यिक बानगी के साथ श्री सुरेश जोशी एक स्वतंत्र-चेता साहित्यकार के रूप में उभर कर सामने आये. वे यहाँ विशुद्ध नन्दतिक कला-दृष्टि एवं नितांत निरपेक्ष सर्जन के प्रति अपना विशेष आग्रह प्रकट करते पाये जाते हैं. वे किन्हीं कृत्रिम सीमाओं में बँधकर (प्रतिबद्ध होकर) साहित्य-सर्जन करना एक अनीतिपूर्ण आचरण समझते हैं तथा कला की दृष्टि से इसे एक विघातक प्रवृत्ति के रूप में देखते हैं. जहाँ साहित्यकार की गति और मति दोनों के आगे किसी तरह का आरोपित विराम चिह्न रहेगा वहाँ अपने आप जड़त्व की स्थितियाँ जन्म ले लेंगी. इसीलिए वे अपने को सदैव Alert — Intellectually Alert रखना चाहते हैं. उनका रचनाधर्मी किसी भी जागरूक साहित्यकार का दायित्व इस प्रतिबद्धता से कहीं अधिक व्यापक और महत्त्वपूर्ण मानता है.

श्री सुरेश जोशी के साहित्य का अनुशीलन करने पर हमें ज्ञात होता है कि उनमें भारतीय एवं पश्चिमी साहित्य परंपराओं का अद्भुत समन्वय हो गया है. एक ओर जहाँ वे अपनी भारतीय काव्य-शास्त्रीय परंपरा एवं यहाँ की सांस्कृतिक धारा से अनुप्राणित हैं वहीं दूसरी ओर पश्चिम की सर्जनात्मक प्रवृत्तियों एवं प्रतिमानों से उनकी गहरी अंतरंगता प्रतीत होती

है. आज हमें उनका साहित्यकार देश–काल की सीमाओं को लाँघकर विश्व-मानवता से जुड़ा हुआ लगता है. और वह इस सत्य को अभिव्यक्ति देने के लिए प्रयत्नशील है कि वर्तमान संदर्भ मनुष्य की नियति तथा उसके अस्तित्व को प्रभावित करके उसे कितनी भयावह, क्रूर और विषम हवाओं में जीवित रहने के लिए विवश कर रहे हैं. यह बहुत स्पष्ट है कि उनकी चेतना को ससीम से असीम की ओर मोड़कर उसे इस उदात्त–तत्त्व से अभिषिक्त करने का वास्तविक श्रेय पाश्चात्य साहित्य के उनके गहन चिंतन-मनन को जाता है. उनके साहित्य में हमें प्रसंगानुरूप जगह-जगह पश्चिम के कई विचारकों एवं साहित्य–मनीषियों के नाम पढ़ने को मिलते हैं. इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि उनका साहित्यकार कीर्केगार्द, नीत्शे, दोस्तोवस्की, सार्त्र, काफ्का, अलबेयर कामू, बोदलेअॅर, जेम्स जॉयस, रिल्के और वालेरी से प्रेरणा पाता रहा है. इन सबका समान-असमान अथवा विरोधी-अविरोधी चिंतन श्री सुरेशजोशी के सर्जक में पहुँचकर इतना अधिक गड्डमड्ड हो गया है कि हम उन्हें इनमें से किसी एक तत्त्व-चिंतक या लेखक की विचार-सरणि से कभी नहीं जोड़ सकते. उक्त सभी मनीषियों के विचारों एवं प्रभावों को समेटकर भी उन्होंने अपने रचना–संसार पर किसी तरह की आँच नहीं आने दी है. उन्हें एक क्षण को भी अपनी पहचान खोकर साहित्यकार कहलाने की दयनीय स्थिति सह्य नहीं है उनका यह कथन इस बात को और भी स्पष्ट करता है: "मैं तत्वदर्शन (फिलोसॉफी) का विद्यार्थी हूँ इसका अर्थ यह नहीं है कि मैं उसके किसी सम्प्रदाय विशेष से सम्बद्ध हूँ जिसके आधार पर आपको तुरन्त ही यह कह दूँ कि आप मुझे अस्तित्ववादी मान सकते हैं, परंतु सार्त्र और कामू जैसा नहीं, बल्कि 'मीरसाल' जैसा. तत्वदर्शन को मानता हूँ इसका अर्थ ही यह है कि मेरी जिज्ञासा सतत जाग्रत है और मैं प्रश्नों को उनके प्रत्येक पहलू से देखभाल कर अपना समाधान करने के लिए सदैव प्रयत्नशील हूँ."

"I want to keep mayself intellectu ally alert. I want to examine all the issues and I am prepared to go back again."

उनका विश्वास है कि विश्व का कोई भी दर्शन, वाद-अथवा बौद्धिक विचार-सरणि इतनी पूर्ण नहीं है कि उसे अंतिम सत्य मानकर सर्जक इस विश्व के वास्तविक रहस्यों का पता पा सके. विचारों के इस परिदृश्य में, यह स्पष्ट है कि श्री सुरेश जोशी के रचनाधर्मी के सामने सतत गतिशील रहने के अलावा दूसरा कोई चारा ही नहीं है. और यही उनका अभिप्रेत भी रहा है. इसी संदर्भ में 'पॉल क्ली' को उद्धृत करते हुए—

The Work of art........is experienced primarily as a process of formation, never as a product. वे कहते हैं "मैं कली को नहीं देखता, कली की फूल में परिणत होने की गति को देखता हूँ." इसी सूक्ष्म और संकल्पित भाव-बोध की भूमि में उनके प्रयोगशील रचनाकार का बीज पनपा और पल्लवित हुआ है. उनका यही दृष्टि-बिन्दु और भाव-लोक उन्हें समकालीन साहित्यकारों से पृथक् ही नहीं, आगे भी कर देता है और गुजराती साहित्य की आधुनिक पीढ़ी का नेतृत्व बरबस उनके हाथों में सौंप देता है. उनके सर्जन में निरंतर प्रवहमान रहनेवाली प्रयोगशीलता की इस सूक्ष्मतर अन्तर्धारा का परिचय प्राप्त करने के लिए हमें उनके समस्त सर्जन की एक अन्तर्यात्रा से गुजरना पड़ेगा. शर्त इतनी ही है कि उस समय हमारा मन और दृष्टि पूर्वाग्रहों से मुक्त एवं तटस्थ रहनी चाहिए.

यह है 'मरणोत्तर' श्री सुरेश जोशी का एक चर्चित लघु-उपन्यास जिसका हिन्दी रूपान्तर आपके हाथों में है. यह सोचकर कि प्रस्तुत कृति को हम उसके सही संदर्भों में समझ सकें, मैंने लेखक के कला-आदर्शों एवं उसकी रचना-दृष्टि के बारे में मोटे तौर पर कुछ बातें कहने का प्रयत्न किया है. पर उसके सर्जक को समझने के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं है. यदि मैं यह भी कहूँ कि 'मरणोत्तर' के रचाव–बुनाव के झीने तन्तु लेखक के सम्पूर्ण सर्जन में यत्र-तत्र बिखरे मिलते हैं तो कोई गलती नहीं करता हूँ. अतः वास्तविकता तो यह है कि जब तक हम उनके इस साहित्यिक तपोवनका चप्पा–चप्पा घूम कर उसमें बिखरा वह एक–एक तन्तु पूरी सजगता के साथ एकत्र नहीं कर लेते तब तक मरणोत्तर के

ताने-बाने के तार हमारे हाथ में आ-आकर फिसलते रहेंगे. फिर भी मेरा विश्वास है कि ये संकेत कृति को पढ़ते समय कहीं न कहीं अवश्य ही आप के साथ सहयोग करेंगे.

किसी भी देश का जीवन्त साहित्य केवल व्यक्ति या वर्ग को नहीं वरन् वहाँ के सम्पूर्ण मानवीय जीवन की आंतरिक अकुलाहट को परिभाषित करता है. आज के अपने परिवेश से जुड़े रहने तथा राष्ट्र-जीवन के साथ सम्पृक्त रहने के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति अपने समसामयिक साहित्य से निकट सम्पर्क बनाये रखे. जहाँ एक भाषा-रूप प्रचलित है वहाँ तो इस सम्बन्ध में कोई कठिनाई नहीं होती पर जहाँ विविध भाषा-रूप व्यवहृत होते हैं वहाँ अनुवाद के माध्यम से उनके साहित्य का विनिमय करके स्थिति को अपने अनुकूल ढाला जा सकता है. यह विनिमय हमारी संवेदना के तार लम्बाकर हमसे हमारी वास्तविक पहचान कराकर हमारे अस्तित्व को सच्ची सार्थकता देता है. आधुनिक गुजराती कथा साहित्य की इस प्रतिनिधि प्रयोगशील रचना के हिन्दी अनुवाद की पृष्ठभूमि में मूलरूप से मेरा यही भाव सक्रिय रहा है.

आदरणीय अमृतरायजी ने अपनी बहुमूल्य सम्मति भेजकर मेरे इस कार्य को जो सार्थकता प्रदान की है उसके लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ.

अंत में यह भी स्पष्ट कर दूँ कि इस कार्य मे मेरा अनुवादक सर्वत्र लेखक की भंगिमा के निकट रहा है; ताकि कृति के मूल रचाव-बुनाव के वैशिष्ट्य को अक्षुण्ण रखा जा सके. ऐसे में संभव है इसकी भाषा का प्रवाह कहीं आपको रोके-टोके तो बुरा न मानेंगे इस अपेक्षा के साथ.

— बंसीधर

प्रकाशक : बुटाला प्रकाशन, नरसिंहजीनी पोळ सामे, महात्मा गांधी रोड-वडोदरा.
मुद्रक : ३-ए. अॅसोसीएटस, लक्ष्मी एस्टेट, बहुचराजी रोड-वडोदरा.

सम्मति

'मरणोत्तर' गहरी संवेदना से दीप्त एक–अर्थ-गंभीर रचना है, जो धीरे–धीरे अपना मर्म खोलती है–किसी करुण रागिनी की अवतारणा के समान जो धीरे-धीरे मन को छा लेती है, अपने अभिधेय अर्थ से नहीं, अपनी व्यंजनात्मक प्रतीतियों से, लय-सुर के अपने सम्मोहन से। 'मरणोत्तर' की अर्थात्मकता भी कुछ वैसी ही है और यह आकस्मिक नहीं है कि उस की भाषा में संगीत इतना घुला हुआ है। हर प्रसंग के अंत में 'कौन मृणाल?' मुझे ऐसा ही लगा जैसे गवैया हर आलाप के बाद सम पर आता है।

'मरणोत्तर' का पारायण मेरे लिए काफी अछूता-सा एक अनुभव रहा–इस अर्थ में ही नहीं कि उसका स्वाद काफी अलग और नया-सा था, इस अर्थ में भी कि एकाधिक बार पढ़ने पर मुझे उसकी पंक्तियों में नये–नये अर्थ उभरते-से लगे। मेरा विश्वास है कि यह उक्ति का चमत्कार नहीं, उससे कहीं गहरी एक ऐसी समग्र शिल्प-विदग्धता है जिसके माध्यम से कथाकार ने एक बहु–आयामी संवेद्य को उसके अनेक कोणों और आयामों में देखने, समझने और प्रस्तुत करने का यत्न किया है। इस दृष्टि से 'मरणोत्तर' निस्संदेह एक सार्थक प्रयोगशील रचना है जिसकी प्रयोगशीलता

अधिकांश आत्म-विज्ञापित 'प्रयोगशील' रचनाओं से अलग, एक जटिल अनुभूति के भीतर गहरे उतरकर उसे रूप देने के आंतरिक आग्रह में से निकलती है। यहाँ पर वागर्थ संपृक्त ही नहीं, अंगांगि ही नहीं, एकात्म से हो गये, दिखाई पड़ते हैं, जो एक बड़ी उपलब्धि है। शिल्प और कथ्य इस प्रकार एकमेव कम देखने को मिलता है।

अनुवाद भी निश्चय ही बहुत अच्छा हुआ है, क्योंकि अनुवाद लगता ही नहीं.

बड़े प्रसन्न मन से मैं इस सुन्दर कृति का स्वागत करता हूँ।

इलाहाबाद
२०-२-७६

अमृतराय

एक

अधपके मरण का भार ढोता फिरता हूँ. अतः हाथ लम्बाकर एकदम किसी का आलिंगन भी नहीं कर सकता. बोलते-बोलते वाक्य को कईबार आधे में ही रोक देना पड़ता है. फिर बाकी का वाक्य पूरा करने का विशेष उत्साह नहीं रहता. कोई बोलता है तो उसे पूरा सुनने के लिए पर्याप्त ध्यान एकाग्र नहीं कर पाता. इस भार के कारण ही चलता रहता हूँ. इसके कारण कहीं बैठने का भी नहीं बन पाता. कभी-कभार हँसता हूँ तो कुछ विचित्र-सा स्वर मात्र निकलता है. अपनी आँखों से ही जीवित हूँ. आँखें सब देखती हैं. ध्यान पूर्वक देखती हैं. पर कोई मेरी आँख में आँख गड़ाकर अधिक देर तक देख नहीं सकता. सामनेवाले व्यक्ति की ऐसी स्थिति देखकर मैं ही वहाँ से खिसक जाता हूँ. आँख का एकालाप अधूरा ही रह जाता है.

सुधीर के घर से समुद्र लगभग आधा-मील दूर होगा. उसका घर एक छोटी-सी टेकरी पर है. टेकरी के ढलान पर सघन वृक्ष छाये हुए हैं. आसपास निर्जन निरापद. मैं उसके घर पहुँचा तब तक मनोज, गोपी, मृणाल, अशोक, रोमा-कोई नहीं आया था. समुद्र की ओर पड़ने वाले झरोखे में जाकर मैं खड़ा हुआ. मैं किसी की प्रतीक्षा नहीं कर रहा था. सुदूर समुद्र का आभास चाँदनी में चमकता था. पवन के झोंकों के कारण मरण का भार सँभालना कठिन हो जाता था. मै अपने हृदय की धड़कन में किसी वेदना की सनसनी सुनता था. इसी क्षण मेरे भीतर निवास करने वाले मरण में से एक विचित्र प्रकार की गंध प्रसरित होने लगती है. मुझे इसका नशा चढ़ता है. इस नशे के बावजूद भी मैं देखता, जागता, और वेदना की सनसनी सुनता, वहाँ खड़ा था. तभी कोई बिल्कुल पास आकर

बोला. उसका यह स्वर गर्भ-स्थित बालक के हृदय की धड़कन जैसा था. एकाएक चाँदनी में एक मुँह चमक उठा. मैंने पूछा—

'कौन मृणाल ?'

'नहीं'

'तो ?'

'मधा'

अब उसका स्वर पतले बर्फ की पतरी जैसा था. प्रकट हो उसके पहले चूर्ण बनकर बिखर जाता था. वह मेरे सामने नहीं देखती थी. न जाने क्यों मुझे लगता था कि मैं किसी खण्डहर के पास खड़ा हूँ. उसकी आँखों में दीवाल पर चिपकी हुई काई जैसी स्निग्धता थी. पर वह दृष्टि मेरी ओर नहीं थी. शायद मैं उसकी दृष्टि में एक अस्तित्वहीन अस्पष्ट बिन्दु मात्र रहा होऊँ. वैसे तो इस तरह का एक निश्चिह्न बिन्दु बनना मुझे बहुत भला लगता है किन्तु अधपके मरण का भार इकट्ठा होकर मुझे एक ऐसी घनता से बोझिल कर देता है कि यदि निश्चिह्न बनकर मुझे अदृश्य हो जाना हो तो भगवान के प्रचण्ड निःश्वास की आवश्यकता पड़े पर भगवान सुखी है, और—

मेधा की साँसें मुझे घेर लेती हैं. उनमें गंध है, करंज के पत्तों को मसलने पर फूटने जैसी गंध. वह मेरे निकट सरकती है. मुझे उसके शरीर का स्पर्श होता है. उसकी यह देह बरसाती नदी के किनारे की भरभरा कर गिरती हुई मिट्टी के सदृश है. पास आये उसके मुँह की उष्मा मुझे स्पर्श करती है. मैं शायद आत्मरक्षा के लिए हाथ ऊँचा करता हूँ. वह मेरा हाथ थाम लेती है, इसे जहाँ ले जाना होता है, ले जाती है. हाथ की शिथिलता के विरुद्ध उसकी काया विद्रोह करती है. मुझमें बैठा हुआ मरण ठहाका लगाता है. उसकी प्रतिध्वनियाँ सुदूर समुद्र के आभास तक वृत्त बनकर फैल जाती हैं. पास आये मेधा के मुँह से मैं ढंक जाता हूँ. उसका मुँह एकाएक घने वन मे बदल जाता है. इस वन में एक गुफा है.

इस गुफा के बाहर काला आर्द्र अँधेरा है. इस अँधेरे की मादक गंध मुझे छेड़ती है.

मैं मेधा के कान में जैसे जादुई मंत्र फूँक रहा होऊँ, कहता हूँ — मेधा ? वह कुनमुनाती है. उसके हाथ की अंगुलियाँ मेरे शरीर में नदी के पानी में घबराकर भागती मछलियों की तरह कुलबुलाती हैं. मैं उसे अपने में बैठे हुए मरण से बचाना चाहता हूँ. मेरा शरीर उसके उत्पात को शांति से सहता है. मैं कुछ बोलने का प्रयत्न करता हूँ. शब्द जैसा कुछ बोलने को होता हूँ कि मरण उसे अपने पंजों में दबोच लेता है. मेरे ओंठ फड़क कर रह जाते हैं. किन्तु उसकी आहट पाते ही वह अपने ओठों से उन अनुच्चरित शब्दों की खोजबीन करती है. तिलमिलाकर मेरे ओंठ काटती है.

मैं मन ही मन कहता हूँ : मेधा, यदि मुझमें अभिशाप अथवा वरदान देने की शक्ति हो तो मैं तुझे एक शिला में बदल दूँ और स्वयं नदी बन कर तुझे अपनी अतल गहराइयों में ले जाकर तेरे साथ क्रीड़ा करूँ. तुझमें नक्षत्र बनने की ममता जगाऊँ.

पर मेधा की काया के आर्द्र–उत्ताप की आबहवा में मैं उलझ जाता हूँ. चंचल गति से यदि दौड़ सकता होता तो एक छलांग भरकर मैं समुद्र के किनारे पहुँच गया होता. इच्छा होती है कि पवन बनकर मेधा की पूरी काया को रेगिस्तान की रेती की तरह वात्याचक्र के साथ उड़ाकर ऊपर चढ़ा दूँ. इच्छा होती है सूर्य बनकर उसे बाष्पीभूत कर डालूँ. घुन्ना मरण इन तमाम इच्छाओं को एक ठंडी फूँक मार कर उड़ा देता है. इस मरण का गला घोंट देने के लिए मैं मेधा के दोनों हाथ अपने गले के आसपास जोरों से भीड़ लेता हूँ. मेधा पशु की तरह हाँफती है. मेरी पकड़ ढीली पड़ जाती है. वृक्ष की ओट में छिपा चन्द्र बाहर निकलता है. उसके उजाले में पास की दीवाल पर एक परछाईं दिखाई देती है. मै पूछता हूँ. 'कौन मृणाल' ?

दो

नीचे के वृक्षों की छाया और पवन – इनकी अठखेलियाँ देखता हूँ. किसी समय आशा बँधती है कि यह पवन मेरे शरीर के बंधनों को खोल डालेगा तब मैं बाहर निकल जाऊँगा. अपने मरण को अपने शरीर में पूर दूँगा. फिर बिना पद-चिह्न छोड़े कहीं चला जाऊँगा. मुझे आकाश में जाकर तारों की तरह चमकना नहीं, ईश्वर को खोजना नहीं, जल के साथ जल होकर बार–बार सूर्य के अत्याचार सहने नहीं. पवन बन कर अंधे की तरह जहाँ–तहाँ भटकना–टकराना नहीं. पवन बन कर अंधे की जीभ से अपना मुखमरापन दिखाना नहीं है. यदि अंधकार स्वीकार करे तो उसमें मिल जाऊँ. फिर कोई अंधकार को अंधकार से कैसे अलगाये ! कहते हैं कि ईश्वर अंधकार के सूत्रों को सुलझाते–सुलझाते अंधा हो गया है. मैं ईश्वर की अंगुलियों के बीच आँखमिचौनी खेलूँ, ईश्वर को परेशान करूँ. शायद उसकी अंगुलियों के साथ रगड़ाते-रगड़ाते मुझमें से भी तेज की चिनगारियाँ झरे पर इसका अर्थ यह नहीं है कि मैं तेज बनकर प्रज्वलित होने के प्रलोभन में फिर से फँस जाऊ.

मेरे इन विचारों को मरण बैठे-बैठे अपनी धूर्तताभरी नज़र से देख रहा है. वह ठहाका लगाता है. वह हँसता है तब उसके सारे दाँत खटखटा उठते हैं. उसकी हँसी का धक्का मेरे हृदय को लगता है, मेरा हाथ सीधे छाती पर जाता है. किसी त्रस्त पंछी को शांत करता होऊँ इस तरह हाथ फिराता हूँ. मेरे मासूम विचारों में मरण की नज़र से बचने लिए भागमभाग मच जाती है. मैं आँख के इशारे से उन्हें स्वस्थ करता हूँ. कोई आता हो ऐसी भनकार होती है. मैं उस ओर नज़र नहीं करता, सहसा कोई आकर मेरा हाथ पकड़ लेता है. मैं पूछता हूँ–'कौन मृणाल !'

तीन

नीचे कई मनुष्यों की आवाजें सुनाई पड़ती हैं. कोई आवाज व्हिस्की से सनी हुई है तो कोई सिगरेट के धुएँ से लिपटी हुई. कुछ जादू करने का मन होता है. इन आवाजों को पंछी बनाकर उड़ा दूँ तो! मेरी इस मन-तरंग पर मुझमें बैठा हुआ मरण मुँह बिगाड़ता है. मैं एक खम्भे की ओट लेकर प्रतीक्षा करता हूँ. नहीं, प्रतीक्षा तो किसी की नहीं करता. थोड़ी ही देर में ऊपर के बड़े खण्ड में झूलते झाड़फानूस के प्रकाश में सब कुछ जगमगा उठता है बाहर के वृक्षों पर उसके प्रकाश की रेखाएँ हिलती है. वहाँ किसी के हँसने की आवाज़ सुनाई देती है. यह हँसी मुझे मानो पूर्व परिचित-सी लगती है. बहुत वर्षों पहले इसे सुनी होगी. किंतु अब तो मरण अपने गलफड़े में समय को जुगालते बैठा है. इससे लिपट कर बैठा है स्मरण. अजगर की तरह अपनी मन्द निष्पलक आँखों से स्थिर होकर यह भूतकाल के भार को उदरस्थ किए बैठा है. उसकी स्थिर आँखों को बन्द करने के लिये मैं जूझा हूँ पर ये आँखें मेरी निद्राके तल में भी जागा करती हैं. पदचाप निकट आते सुनाई पड़ते हैं, ऊपर का खण्ड सजीव होता है, उसमें रखी हुई वस्तुओं में चेतना आती है. बाहर के

७

झरोखे में बैठे कबूतर प्रकाश के कारण अस्वस्थ होते हैं. उनकी निद्रालस आँखें थोड़ी देर के लिए गोलगोल घूमती हैं. पर थोड़ी सी परछाइयाँ अभी शेष हैं. उनमें से भी एक हूँ. मन होता है कि अपने को समेटकर घर की बल्लियों में छिप जाऊँ. पर इस मरण की बड़बड़ाहट को किस तरह समेटना! पैरों के नूपुर छमकते हैं. वार्तालाप सुनता हूँ. आवाजें एक दूसरी को पकड़ने का प्रयत्न करती हैं. किसी की हँसी गहरे घाव से बहते लहू की तरह प्रवाहित होती है. उसका प्रवाह मुझ तक आ पहुँचता है. मैं शरीर को अधिक सिकोड़कर खड़ा रहता हूँ. पर इस के कारण मेरे भीतर का मरण अकुलाता है. सुख इस बात का है कि वह अभी अपाणिपाद है. वह कटे हुए वृक्ष के ठूँठ के सदृश है पर उसकी आँखें फटी हुई हैं. मुख की जगह छेद हैं. आवाजों में से कुछ भारी हैं. उनके नीचे गिरने की धम्म की आवाज मेरे शरीर में स्पंदन जगा जाती है. कई आवाजें रँग-बिरंगे कागजों की लगियों की तरह फरफराती हैं. कोई आवाज अंधे के टटोलते हाथों जैसी है. उसका आकस्मिक स्पर्श होते ही मैं पूछ उठता हूँ—'कौन मृणाल ?'

चार

दो चार भावनाएँ मरण की नजर बचाकर भाग जाने की इच्छा करती हैं. मैं देख रहा हूँ. थरथराती, काँपती भावनाएँ अपना मुँह भी पूरी तरह पहिचानने नहीं देती है. मरण के जहरीले उच्छ्‌वास से मुक्त होकर ये थोड़ी देर के लिए स्वच्छ वातावरण की सतह पर जाना चाहती हैं. अपने और इन भावनाओं के बीच का सूत्र मैं किसी तरह जोड़ने जाता हूँ कि मरण उसे तड़ड से तोड़ डालता है. उसके टूटने का आवाज मेरे ज्ञान–तंतुओं में बिजली के झटके की तरह व्याप जाता है. ये भावनाएँ कैसी कृश हो गई हैं ? इन्हें न हास्य का पोषण मिला और न आँसुओं का. निर्जन विस्तार में पड़ी शिला की तरह में अपने भार के नीचे कुचलाता पड़ा रहता हूँ. सूर्य मेरे साथ पछाड़ें खाता है. चन्द्र की किरणे मुझे चुभती हैं और पवन मेरे साथ रगड़ा–रगड़ा कर सब कुछ गदबदा बना देता है पर ऐसे किसी क्षण में जैसे कहीं से पत्थर में उल्का का स्मरण जागता है वैसे ही ये भावनाएँ भी जाग उठती हैं और मैं अपनी दृष्टि के सामने वाले समुद्र के आभास को सजीव होकर उठते हुए देखता हूँ. वह नन्ही-सी आँख में बदल जाता है...उसमें माया है अथवा करुणा, प्रीति है अथवा उदासीनता, प्रतीक्षा है अथवा उपेक्षा इसे मैं समझ नहीं पाता. वह मेरे सामने देखती हुई भी जैसे मुझे लांघकर कहीं दूर दौड़ रही है. मैं उसे रोक नहीं सकता और न उसकी दृष्टि सीमा के बाहर जा सकता. वह आँख वाचाल नहीं है. उसकी स्निग्धता कौन जाने क्यों मुझे स्पर्श नही करती ? उस आँख में से आँसू की झाँई मिटती नहीं हैं, आवरण के कारण मैं उसमें प्रवेश नहीं कर सकता. मेरा प्रतिबिम्ब उसमें दिखता नहीं है. कितनी भंगुर लगती है वह आँख. मानो अँगुली का स्पर्श होते ही फ़ट जायेगी. इसी डर से मैं उस आँसू

की झाँई को अलग करने का साहस नहीं करता और इसीलिए उस आवरण के बाहर रह जाता हूँ. यदि यह इतना धुंधला-सा आवरण हट जावे तो शायद उस आँख की कोरें आनन्द के ज्वार से भरकर छलक उठें, तो शायद उसी आँख की अतल गहराईयों में मैं सुख के साथ लय हो सकूँ. तो शायद इस मरण का दम घुटने लगे और वह मुझमें से निकल कर भाग जाये--एकाएक मेरे पास से कोई पंछी पँख फड़फड़ाकर उड़ जाता है. मुझे इसका भान हो उसके पहले मैं पूछ लेता हूँ-- ' कौन मृणाल ? '

पाँच

मनोज एक बड़ा मकड़ा है. वह अपने तमाम पैरों के साथ भागता रहता है. उसकी स्थिर लगती आँखों में संजीदगी नहीं शायद भय है, शायद शरारत है. वह जो बोलता है मैं उसे सुनता नहीं. पर लगभग अदृश्य चिकने ततुओं को लम्बाते देखता हूँ. वह किसके डर से भागता है.! अथवा किसकी ओर दौड़ता है ! कहीं अंधेरा कोटर मिल जायेगा तो वह स्थिर हो जायेगा. फिर वह अपना जाला बुनता रहेगा. उसके पश्चात् वह उसमें फँसे हुए शिकार की संख्या तक की गिनती नहीं रखेगा. उस समय उसकी स्थिरता पत्थर के सदृश्य हो जायेगी. मैं उसके पैर तोड़ डालने की इच्छा करता हूँ, उसकी आँखें फोड़ डालने की इच्छा करता हूँ. पर उस चिकने स्पर्श से मुझे जुगुप्सा होती है. उसके लम्बाते तंतुओं से दूर रहता हूँ, चौकन्ना रहता हूँ. फिर भी एक लोभ जागता है. मुझमें रह रहा यह मरण उसके उन तंतुओं में उलझ जाय तो फिर उसके जाल में झूला करे. न यह मुक्त हो और न मनोज मुक्त हो—यह सुनकर मरण अपनी धूर्ततापूर्ण हँसी का एक ठहाका लगाता है. इस ठहाके से समय की पर्तें हिल उठती हैं सब कुछ अस्थिर हो जाता है. दर्पण हिलाने से जैसे सब उँचा–नीचा हो जाता है, उल्टा–सीधा हो जाता है ठीक वैसा ही मेरे चारों ओर सब कुछ हिलने लगता है. परिचित वस्तु की दृढ़ता से मैं चिपटने जाता हूँ और दूसरे ही क्षण फिसल पड़ता हूँ. थोड़ी देर के लिए मेरी आखों के सामने से सबकुछ साफ हो जाता है. केवल मेरी शिराओं में चाबुक फटकार कर दौड़ाया गया हो इस तरह लहू दौड़ता है. चारो ओर लाल-लाल लहरें उछलती हैं. मैं उस समुद्र के आभास को खोजता हूँ. वृक्षों के बीच छिटकी हुई चाँदनी को तलाशता हूँ. अरे, कुछ नहीं तो मनोज द्वारा फैलाये गये उन चिकने तन्तुओं का आधार तलाशता हूँ एक क्षण के लिए मानो सब कुछ लुप्त हो जाता है. ऐसा लगता है मानो इस लुप्त होने के बोध का बुदबुद अभी फूटनेवाला है. तभी कहीं से हल्का-सा उच्छ्वास मुझे स्पर्श करता है और मैं अधीरता पूर्वक पूछ उठता हूँ–' कौन मृणाल ? '

छह

मरण एकधूर्त–मौन धारण किये बैठा है. मैं उसके इस धूर्त–मौन को कुरेदने का प्रयत्न करता हूँ. पर वह निष्पलक दृष्टि यथावत् रहती है. यह धूर्त–मौन उसके रोष की निशानी है और मेरा अनुमान सही निकलता है. एकाएक उसके रोष की फुत्कार से सभी कुछ काँप उठता है. महानगर के रास्ते उसके भय से दुहरे हो जाते हैं. खिड़कियाँ जलते कागज़ की तरह उड़ जाती हैं. दीवालें चपटी होकर मिल जाती हैं. मनुष्य चिंदियों की तरह उड़ जाते हैं. वृक्षों के मूल उखड़कर हवा में झूलते हैं. मुझे आशा बँधती है कि मैं भी राख होकर उड जाउंगा. पवन मेरा हाथ थामेगा, नदी के शीतल जल की गोद में बैठूंगा, शीतलता में घुल जाउँगा, मुक्त हो जाउँगा. पर इस सबके बीच मेरे प्रति मरण की पकड़ उतनी ही मजबूत है. उसके दबाव से दबकर मेरी सांसे बेचारी बनकर चलती है. यह होने की चेतना ही भारी बज़न बनकर मुझे बिखरने से रोकती है. यह होने का आकार किसने इतनी माया से गढ़ा होगा ? मरण हाथ फेर–फेर कर इस माया को मिटा डालने की इच्छा करता है. यह मिटती नहीं, मैं मिटता नहीं. मरण जिद्द छोडता नहीं धीरे–धीरे मरण शांत होता है. रास्ते पुनः अपनी जगहों पर व्यवस्थित हो जाते है. खिडकियाँ, मानो कुछ हुआ ही न हो इस प्रकार पुनः अपने–अपने स्थान संभाल लेती है. दीवाले अलग होकर खडी हो जाती है. परन्तु उन रास्तों पर कोई फटकता नहीं. उन खिड़कियों से कोई झुककर देखता नहीं. उन दीवालों के बीचवाले दरवाजे खुलते नहीं. सब जैसे मंत्रोच्चार की राह देख रहे हैं. सब सजीव हो उठने की तैयारी में हैं. मैं निस्तब्ध बनकर देखा करता हूँ. तभी कहीं पास की ही खिड़की से झुककर कोई झाँकता है. मैं पूछता उठता हूँ–'कौन मृणाल !'

सात

गोपी का हास्य गूँज उठता है. मुझे ऐसा लगता है मानो घनी झाड़ियों के बीच सहसा कोई कलकल करता झरना दिखाई दे गया हो. मैं सुदूर समुद्र के आभास को देखता हूँ, पर मरण की नज़र बचाकर इस हास्य को भी देखता रहता हूँ. बहुत हँसने के कारण आँखों में आये आँसू, गालों की उभरी ऊँचाइयाँ, खुला हुआ मुँह, रह-रहकर गिनने का मन हो ऐसी दंत पंक्ति-इस सब को मैं अपनी नज़र के सामने प्रत्यक्ष करने के लिए जूझता होता हूँ कि तभी वह हास्य लुप्त हो जाता है पर उसकी प्रतिध्वनियाँ रह जाती हैं. किसी पुराने राजमहल के खण्डहरों की दीवालें मध्यरात्रि में जैसे किसी अकाल काल-कवलित राजकुमारी के हास्य से गूँज उठें, एक-एक दीवाल पर उसकी प्रतिध्वनियाँ लम्बा जायें वैसे ही हास्यकी प्रतिध्वनियाँ मुझमें गूँज उठती हैं. मै घबरा जाता हूँ. यदि इससे मरण की तन्द्रा टूट गई तो ? इन प्रतिध्वनियों को मैं शिशु की तरह थपथपाने का प्रयत्न करता हूँ मेरी अँगुली के पोर में जितनी माया-ममता हो सकती है उतनी सब टपकने देता हूँ. हल्की, धीमी थपकियों से मैं इन प्रतिध्वनियों को शांत करने का प्रयत्न करता हूँ. मेरी इन थपकियों के हल्के आवाज के नीचे ये प्रतिध्वनियाँ शांत होती जाती है. कहीं किसी के आँसू के तल में बैठ जाती है. फिर सब शांत हो जाता है. कहीं दो उल्लूओं का झगड़ा चलता है, कहीं किसी वृक्ष की शाखाओं के बीच पवन अपने उलझे अंगों को धकियाकर निकालता-सा सुनाई देता है. कहीं झडा हुआ पत्ता किसी दुःस्वप्न के कारण आह भरता सुनाई देता है. कहीं पिंजरे में तोते द्वारा थोड़ी-सी आँखका खोलना सुनाई देता है. वृक्षो के नीचे खिसकती चाँदनी की पद-चाप सुनाई देती है. थोड़ी देर के लिए ऐसा भास होता है मानो कोई निकट आ रहा है. उसके पद-चाप से मरण की तन्द्रा टूटे नहीं इसलिए मैं ओंठ हिलाकर कहता हूँ-धीरे, धीरे, मेरे कान में कोई कहता है-धीरे, धीरे, धीरे.... मै पूछता हूँ- 'कौन मृणाल ?'

१५

उस हाथ जैसा लगता है जो डूब जाने के बाद बाहर किनारे पर आ लगी हो. मुझे भय है कि यदि यह इसी प्रकार अधर में बना रहा तो उत्तरोत्तर भारी होता जायेगा. पर अंगुलियाँ छिटक गई हैं. मैं नहीं जानता कि किसी दूसरे हाथ के द्वारा इस हाथ को पकड़े जाने के बाद भी ये अंगुलियाँ उस दूसरे हाथ की अंगुलियो में पिरोई जा सकती हैं या नहीं ? इस हाथ में कोई अडिगता नहीं, इसलिए मैं चाहता हूँ कि यह डिग जाय और सहज बने. वर्षों से हाथ छिपाकर मैं एक टुंडे मनुष्य की तरह चलता रहा हूँ. इसीलिए मुझे अपने हाथ की यह करतूत देखकर भय लगता है. अंगुलियों में अब हलचल नहीं होती. मैं मुट्ठी बंद करने का प्रयत्न करता हूँ. . मुझे लगता है कि यदि हाथ में हाथ छिपा लिया जाय तो इस स्थिति से उबरा जा सकता है. यह सिरपच्ची कर ही रहा था कि पास का एक द्वार खुलता है. मुझसे थोड़ी दूर प्रकाश की एक पट्टी पसर जाती है. मुट्ठी बंद करते हुए मेरे हाथ को बीच में ही कोई पकड़ लेता है. मै पूछता हूँ – 'कौन मृणाल ?'

नौ

नीचे कार के 'स्टार्ट' होने की आवाज होती है. आखिर में पीछे रहा हुआ कोई धड़धड जीना उतर कर दौड़ता है. उसके दौड़कर चले जाने के बाद बहुत देर तक उसकी प्रतिध्वनियाँ गूँजती रहती हैं. प्रकाश के झाड़फानूस बुझ जाते हैं. मुझे लगता है कि अब कहीं कोई नहीं हैं. सर्वत्र शांति की साँसें सुनाई पड़ती हैं. झरोखे की ओर पड़ने वाली खिड़कियों के कांच चाँदनी में चमक उठते हैं. उनके चमक उठने की आवाजें प्रतिध्वनित होकर—इधर उधर बिखर जाती हैं. सुदुर समुद्र के पानी की सतह के नीचे सोया सूर्य करवट बदलता है तो उसकी आवाज भी यहाँ सुनाई देती है. सूने झरोखों में पवन रह-रह कर फेरी लगा जाता है. कहीं से किचुड़-किचुड़ का स्वर सुनाई देता है. देखता हूँ तो झरोखे का झूला हिल रहा है. थोड़ी देर के लिए तो मान लेता हूँ कि यह पवन की ही शरारत होगी. पर जब स्थिर दृष्टि से देखता हूँ तो सफेद आकारों वाली कुछ धुंधली रेखाएँ दिखाई पड़ती हैं. तभी मुझे झरोखे के सामने वाले छोर से एक दूसरी आकृति आती हुई दिखाई देती है, थोड़ी देर के लिए झूला थम जाता है. फिर झूला अधिक वेग से चलने लगता है. झूले के इस लय से अथवा न जाने कैसे मुझमें रहने वाला मरण अस्वस्थ हो जाता है. वह थरथर काँपता है. उसके काँपने से मैं हचमचा उठता हूँ. पर मेरे हिलने से कहीं वे रेखाकृतियाँ मेरी उपस्थिति जान न लें इस भय से मैं एक खम्भे की ओट लेकर खड़ा रहता हूँ. तभी शांति भंग करता हुआ एक ठहाका गूँज उठता है. सूने घर के प्रत्येक कोने में उसकी प्रतिध्वनियाँ पैदा होती हैं. ऐसा लगता है मानो उस ठहाके का संकेत

१७

.

.

पाकर इस घर में रहने वाली कितनी ही अदृश्य आकृतियाँ बाहर आ गई हों. झूला ऊँचा चढ़ता है. ठहाका तेज होकर लगभग चित्कार में बदल जाता है. मैं अपने दोनों कानों में अंगुलियाँ डाल लेता हूँ. आँखें बन्द कर लेता हूँ. मरण मेरी साँसों में किसी आशंका से हाँफता हुआ प्रतीत होता है. ठहाके की आवाज धीमे-धीमे हल्की और हल्की होती जाती है. थोड़ी देर के बाद मैं साहस करके आँखें खोलता हूँ. झूला अब लगभग थम जाने की स्थिति में है. नीचे नज़र डालता हूँ तो चाँदनी में उन धुंधली आकृतियों की एक रेखा मात्र दिखती है. यह दूर बहुत दूर होती जा रही है. अंत में ऐसे दो बिन्दु ही दिखाई देते हैं जो चाँदनी की छटा में पहिचाने नहीं जा सकें. उसके बाद वे सुदूर समुद्र के आभास में विलीन हो जाते हैं. मैं अपने कानों में डाली हुई अंगुलियाँ निकाल लेता हूँ. मुझे ऐसा भास होता है कि धीमे, चुप–चुप स्वरों में कोई बिल्कुल निकट आकर मुझसे कुछ कह रहा है. मैं पूछता हूँ – 'कौन मृणाल ?'

दस

एकाएक पूरा झरोखा चाँदनी में उजागर हो जाता है. देखता हूँ तो दूसरे छोर पर कोई मेरी ओर पीठ करके कुर्सी में पसरे हुए सिगरेट पी रहा है. पास की तिपाई पर रखा गिलास चाँदनी में चमक रहा है. मै पास में जाकर पूछता हूँ–'कौन सुधीर ?' वह चौक कर मेरी ओर देखता है, कहता है– 'नहीं, अशोक.' फिर पूछता है–'अरे, तू सबके साथ 'बीच' पर नहीं गया !' मै कहता हूँ–'नहीं', थोड़ी देर तक वह मुँह की सिगरेट को दाँतों से काटता हुआ बैठा रहता है. फिर कहता है–'बैठ, ड्राउन योर सेल्फ इन ड्रिंक.'

'नहीं'.

'दोस्त कुछ उपाय बता. तेरे पास जो कोई उपाय हो तो मैं उबर जाऊँ.'

मैं मौन रहता हूँ. देखता हूँ उसकी आँखें सूजी हुई हैं. वह हमेशा कुछ न कुछ लिखने की बातें करता है. बड़ी–बड़ी डींगें हाँकता है. खूब चमत्कृत करता है. पर वास्तव में उससे कुछ बन नहीं पाता. फिर सब कुछ स्थिर हो जाता है. वह लिखने–करने की बात भूल जाता है. तभी कोई नारी उसे छेड़ जाती है. कोई रीता, डोली, मोनिका——फिर उसके भीतर कहीं से कोई इच्छा कुलबुलाती है. फिर डींगें हाँकता है और. अंत में कुछ न करने का नशा उसे घेर लेता है, वह बेहोश हो जाता है.

वह पुनः पूछता है–' मित्र, कोई उपाय बताओ.'

वह मेरी आँखों में झाँकता रहता है. घुन्ना मरण ठहाका लगाता है. मन होता है मै अशोक से कुछ कहूँ. पर ज़बान पर पहला ही शब्द नहीं

आता. शायद मेरे चेहरे पर बोलने की उत्सुकता का भाव है इससे वह अधीरतापूर्वक मेरी ओर ताकता रहता है. मुझे उससे बहुत सारा कहना है. वर्षों से कहने की इच्छा है. मैं मात्र उसका हाथ अपने हाथ में लेता हूँ. मेरे हाथ के स्पर्श से वह एकाएक चौंक जाता है, अपना हाथ पीछे खींच लेता है. पर वह मेरी ओर से अपनी दृष्टि नहीं हटा पाता ... वह एक निःश्वास छोड़ता है. फिर नज़र नीची करता है. सिगरेट जलाता है. और मुझे हाथ पकड़कर बिठाता है. मैं समझ जाता हूँ कि वह कुछ कहना चाहता है. मैं न होता तो शायद वह इस घर की शून्यता को भी यह बात बताता. अतः मैं बैठ जाता हूँ. सिगरेट की राख झिटककर वह समुद्र की ओर दृष्टि किये थोड़ी देर तक स्थिर होकर बैठा रहता है. फिर मेरी ओर घूमता है. ओंठ को दाँतों से काटते हुए कहता है — 'डेम सिली गर्ल्स !' थोड़ी देर तक वह कुछ नहीं बोलता. फिर मैं समझ जाता हूँ कि अब उसके शब्द अधिक देर तक रुके रहें ऐसा नहीं है. सिगरेट को एशट्रे में मसलकर वह अस्थिरतापूर्वक खड़ा हो जाता है. कहता है — 'यू केन नॉट राइट ए मास्टरपीस विदाउट ए मिस्ट्रेस'. पर ऐसी कम्पेनियनशिप कहाँ मिलती है? अपना यह पवित्र देश भारत. इसकी सभी नारियाँ देवियाँ. कोई मनुष्य रूप में मनुष्य के साथ बात ही नहीं करता....यू हेव टु पेम्पर देअर इगो. तुम तो बहुत अच्छा गाना जानती हो. ओह, यह तुम्हारा पेन्टिंग है ?—फिर थोड़े कातर स्वर में तुम अपने दुःख का बयान करो. देवी पसीजेगी. माता की तरह आश्वासन देगी या फिर उसकी आँखों में आँसू छलक आयेंगे. अपन कहेंगे— 'डोन्ट स्पॉइल योर ब्यूटीफुल आईज़'. अतः फिर मुस्कराती है. ज़रा अच्छा वातावरण बन सके इसलिए प्रसंग निकालकर और साहसपूर्वक चर्चा चलायें. 'आइ वान्ट टु राइट एन एक्स्ट्राआर्डिनरी स्टोरी.' तब वह फटे मुँह अपनी ओर देखेगी और विस्फारित नेत्रों से पूछेगी : 'ओह, इज़ इट सो ? हाउ वन्डरफुल.' इससे प्रोत्साहित होकर हम बातों का सूत्र आगे

बड़ाते हैं. दो एक क्षण वह सह लेगी फिर बहुत ही विनम्र स्वर में कहेगी 'एक्स्यूज़ मी, आई हेव टु रिंग अप माइ फ्रेंड —' बाद में उस मित्र के साथ होनेवाली बातें — 'हाउ लवली, हाउ नाइस, स्योर, स्योर, स्योर, डोन्ट बी सिली, पुनः आकर बैठती है. पिछली सारी बातें भूल गई है और अचानक पूछ बैठती है. तुम स्टेट्स कब गये थे? गुस्सा होकर जवाब देंगे–'अंतिम बार गया था' ६७, में' फिर अपन कुछ बहाना निकालकर उठ जायें. 'बात खतम.' इतना बोलकर वह फिर तीनचार बार बड़बड़ाती है 'खतम, खतम, खतम.' तभी मुझे कहीं से परिचित सुगन्ध आती है. झरोखे के दूर के छोर पर किसी की उपस्थिति का संकेत मिलता है. मैं पूछता हूँ: 'कौन मृणाल?'

ग्यारह

मरण कुछ थका-सा बैठा हो ऐसा लगता है. मैं उसकी दृष्टि बचाकर उसे देखता रहता हूँ. यह खोजने का प्रयत्न करता हूँ कि इसे पोषण कहाँ से मिलता है ? शायद ऐसा कोई उपाय निकल आये जिसके बल पर इसे अभी भी एक ही उच्छ्वास में लुप्त किया जा सके. मैंने बहुत प्रयोग करके

देखे हैं. दिनरात अविराम चलता रहा हूँ. केवल अपने दो पैरों के अस्तित्व के अलावा बाकी सभी अंगों का लोप करके चला हूँ. इस आशा से चला हूँ कि कदम-कदम पर मरण रज-रज होकर झरता जायेगा. पर चलते-चलते किसी समय पीछे देखा होगा. पीछे छूटे हुए मोड़ पर कोई खड़ा है इस भ्रम से कदम रोक लिए होंगे. लुप्त की हुई आँखों को पुनः उघड़ने दी होंगी. चलते-चलते क्षणों को ठोकर मारने के बदले शायद किसी लोभवश थोड़ा थमकर एकाध क्षण सहेज रखने के प्रलोभन में नीचे झुका होऊँगा. शायद अनजान में ही बाहर निकलती साँस को क्षणभर के लिए रोक लिया होगा. पवन की लहर कोई संदेश लाई है इस भ्रांति से शायद मैं कान लगाकर खड़ा रह गया होऊँ ... किसी वृक्ष की झूलती शाखा में अनजाना तर्जनी-संकेत समझ लेने की नादानी की हो. चलते-चलते दूर किसी नदी के जल का आभास पाकर अनजाने ही हृदय में किसी आशा का संचार होने दिया हो .... क्षितिज तक दौड जाने की किसी आसक्ति ने शायद मन को किसी भुलावे में डाल दिया हो. पलकों पर झिलमिलाते आँसुओं ने दृष्टि के सामने अचानक मृगजल की माया रच दी हो. शायद मेरी परछाईं पर मैंने ज़रूरत से ज्यादा विश्वास रखा हो. ऊँची दृष्टि करके किसी चमकते तारे को देख दिशा निश्चित करने का आग्रह रखा हो. आगे भागते हुए किसी बवंडर का साथ पाने के लोभ से किसी वात्याचक्र पर चढ़ गया होऊँ. चलते-चलते अनजाने में किसी अपरिचित घर के द्वार में प्रवेश कर गया होऊँ. ऐसी सभी भूलों ने मरण को पोसा होगा. इसके पुष्ट होते हुए देह को गला डालने इतनी गर्मी, इसे बहा देने इतने आँसू नहीं हैं. अब तो इसके भार को ठेलने के लिए किंचित चल पाना भी कितना मुश्किल हो गया है ! तभी झटके से कोई खिडकी खोलता है. खिड़की से झुककर मेरी ओर ताकता नज़र आता है. मैं पूछता हूँ : 'कौन मृणाल !'

बारह

शांति है. ऐसी शांति कि जिसमें पत्थर के नीचे दबी हुई ज़मीन को फोड़कर फूटने के लिए जूझते अंकुरों की ध्वनि तक सुनाई दे. ऐसी ही शांति में किसी खिलते गुलाब की तरह एक घाव विकसित हो रहा है, फूट रहा है. मैं उसकी लाल-लाल पंखुरियों को देख रहा हूँ. सहज रूप में उभर आई उसकी पुष्टता को नश्तर मारकर दूर करने इतना ममत्व मै जुटा नहीं सकता वेदना का झनकारा उठता है. उसीकी मानो एक धारा बनती है इस धारा का स्वर इस शांति में सुनता हूँ. पर यह धारा धीमी है. इसका वेग प्रचण्ड रूप ले तो शायद टूटकर भार से थोड़ा हल्का होने का अवसर मिले. मरण इस मन-तरंग पर हँसता है. मै मुँह फेर लेता हूँ. पवन शायद परेवों के पंखो मे पोढ़ गया है. झरोखे का झूला स्थिर है. पूरे घर में अब प्रेत की तरह कुछ भी हिलता-डोलता नहीं है. शून्य के पसरने की आवाज तक कानों में नहीं पड़ती. मेरा मन ज़रा झूला झुलाने का होता है. पर मेरी परछाईं खम्मे के साथ चिपकी हुई है. उसे उकेला नहीं जा सकता. चाँद घर के छप्पर की दूसरी ओर चला गया है. घाव का गुलाब पूरी तरह खिल गया है. मैं उसकी पूर्णता के फलस्वरूप प्राप्त पीडा को सह नहीं सकता, पर तनिक-सी भी आह भरकर इस शांति को भंग करने का साहस मुझमें नहीं. मैं सोच रहा होता हूँ कि इस सज्ञाहीन शांति को झकझोर कर कौन जगायेगा? तभी मुझे हल्की-सी आवाज सुनाई देती है. शायद पहले-पहले ओसकण के झरने की आवाज़. शायद अनजाने में टपके हुए किसी आँसू की आवाज़. शायद थकित चन्द्र का निःश्वास. शायद घर की बत्तियों में सोये अंधकार द्वारा करवट बदलने की आवाज. शायद बिल में प्रवेशती चींटियों की आवाज – तभी घाव के गुलाब की पंखुरी पर एक आँसू टपकता है मै पूछता हूँ 'कौन मृणाल?'

तेरह

मैं जल रहा हूँ. बचपन में जब मैं पीले पट्टे-पट्टे काला बाघ देखता था तो ऐसा लगता था कि ये पट्टे—पट्टे तो जल जाने के कारण पड़े हुए दाग हैं. इसी लिए जला-झुलसा बाघ भागता रहता है. बहुत बार दावाग्नि देखी है. पूरी पर्वतमाला में आग को दौड़ते हुए देखा है. ऐसी ही दौड़ती हुई अग्निशिखा के रूप में बाघ को देखा है. आज मैं भी मानो उस अग्निशिखा रूपी पट्टे-पट्टे वाले बाघ की तरह छलांग भरकर दौड़ने की इच्छा करता हूँ. मेरे पैर छलांग भरने को तत्पर होते हैं. मेरी आँखें तो पहले से ही छलांग भरकर कूद जाती हैं. पर धुत्ता मरण पैंतरा भरकर बैठा है. इसकी चाल मेरी समझ में नहीं आती. मेरी अवरुद्ध गति मेरे पैरों में अजगर की तरह लपेटा लेकर बैठी है. मैं किसी ऊँचे पर्वत के शिखर की तरह अस्थिर हूँ. पवन मेरी स्थिरता के साथ खरोंचाता है. आँख बिल्कुल नहीं झपकती है. नीचे वृक्षों के बीच कोई घूम रहा हो ऐसा लगता है. पैरों से सूखे पत्तों के कुचले जाने की आवाज आती है. इस आवाज से एकाध रानी बिल्ली अथवा खरगोश भड़क कर भाग जाता है. पर यह आग मुझे अपनी लपेट में लेती जाती है. यह आग झुलसाती है, जलाकर राख नहीं करती है. मैं शीतलता की रट नहीं लगाता हूँ. पूरा जल जाना चाहता हूँ. परन्तु ऐसा तो होता नहीं है. मैं इस आग को घुमाकर दूर बहुत दूर फेंक देना चाहता हूँ. पर स्वयं ही मानो इसकी मुश्कियों से बंध गया हूँ. थोड़ी देर के लिए तो सब कुछ आगमय होता लगता है. इस सुनहली आग के बीच मरण की लाल अंगारों जैसी आँखें चमकती हैं. मेरा एक तप्त लोह-खण्ड की तरह प्रदीप्त हो गया है. कुछ देर के लिए तो ऐसा लगता है कि समय इस उष्णता के कारण भाप बनकर उड़ जाएगा. पर मेरे भीतर समय के एक-एक पल को कोई पीड़ रहा है. पीड़ने की यह आवाज सुनता हूँ. इस आवाज के साथ कुछ कटने की आवाज भी आ रही है. मानो कोई मेरे इन बंधनों को काट रहा है. अंतिम बंधन के कटने पर आभार व्यक्त करने के लिए पीछे मुड़कर मैं पूछता हूँ 'कौन [illegible]?'

चौदह

दूर समुद्र की ओर थोड़ी पारदर्शक स्वच्छता का खण्ड दिखाई पड़ रहा है. शायद वहाँ न जीवन है न मरण. यह ऐसी स्वच्छता है कि किसी हल्के से आभास से भी इसकी तुलना नहीं की जा सकती. पहली बार जब ईश्वर की आँखें खुली होंगी तब शायद उनमें ऐसी स्वच्छता दिखाई दी होगी. मैं अपने मरण को इस स्वच्छता तक ले जाना चाहता हूँ. यदि हम दोनों मिलकर निःशेष हो जायें तो हमें कितना सुखद मोक्ष प्राप्त हो. अतः मैं दूर दिखाई देने वाली स्वच्छता के साथ तदाकार हो जाना चाहता हूँ. इसके साथ तदाकार होने का अर्थ है अपने अस्तित्व की रेखाएँ मिटा देना. मैं मिटाता हूँ और हठीले बालक की तरह मरण उन्हें बार-बार मांड देता है. फिर भी स्वच्छता के उस खण्ड को मैं अपनी दृष्टि से ओझल नहीं होने देता हूँ. कोई वैसा वरदान दे और मैं उड़कर वहाँ गिर पड़ूँ तो! मैं उसी स्वच्छता का ध्यान करता हूँ. सूर्य और चन्द्रमा के कलंक वहाँ पिघल गये हैं. शरमाए हुए मरण को आत्मघात करने के लिए वहाँ स्थल है. समुद्र ने वहाँ अपनी सारी बेचैनी का शमन कर दिया है. मेरु और हिमालय उसके अतल में अपना सारा अभिमान डुबो आये हैं. तारों की निष्पलक दृष्टि वहाँ जाकर स्थिर हो गई है. पवन को वहाँ पहुँच कर अपनी चंचलता से छुटकारा मिला है.

पर घुन्ना मरण मुँह फेरकर बैठा है, मैं देखता हूँ उसके पंजे थरथरा रहे हैं और नीली शिराएँ काँप रही हैं. अंगारों जैसी चमकती आँखों पर भी मानो सफेद, फीकी राख जम गई है. इसीलिए उस निराकार स्वच्छता को मैं अपलक दृष्टि से देख पा रहा हूँ

पर तुरन्त ही वह स्वच्छता निस्पन्दित हो उठती है, उसका विस्तार संकुचित होने लगता है, वह मानो दृष्टि गड़ाकर देख रही है. मैं उस दृष्टि-संकेत को समझने का प्रयत्न करता हूँ. वह एक आँख का रूप लेती है. पर उसकी स्वच्छता कलुषित नहीं होती है. बहुत निकट आ जाने पर सहसा मुझे भान आता है और मै पूछता हूँ: 'कौन मृणाल!'

पन्द्रह

मेरे पद-तल के नीचे एक पर्वत उभर रहा है. इसकी हठीली ऊँचाई मुझे तिनके की तरह ऊपर उठा लेती है. चारों ओर फैलती जाती व्यापकता मेरे टिके रहने इतने अस्तित्व के परिणाम को भी लीलती जाती है. मुझ में बैठा हुआ *मरण संकुचित होकर एक बिन्दु के सदृश्य हो जाता है. यह सतत* चुभता रहकर मुझे अपनी उपस्थिति का एहसास कराता रहता है. मैं भी इस एहसास के बल पर टिका हुआ हूँ. मेरे अस्थि-मर्म में से एक चीख फूटती है. मरण इसकी प्रतिध्वनियों के सामने खिखियाता है. ऊँचे और ऊँचे जाने पर कानों में हवा का हाहाकार गूँजता रहता है. हवा के तन्तुओं से निर्मित जाल से झेला जाकर मानो मैं बच सका हूँ. नीचे परिचित संज्ञाएँ धुँधली और धुँधली होती जा रही है. मुझे आशा बँधती है कि शायद इस ऊँचाई पर मेरे दुःख को पंख उग आयेंगे पर दुःख की घनता तो ऊँचाई के साथ बढ़ती जा रही है. पर्वत ने मुझे ऊपर उठाया है. पर मैंने मानो अपने भीतर इस दुःख की घनता का पहाड़ उठा रखा है. ऊपर से कहीं से वज्रपात होगा इस आशा से मैं ऊपर देखता हूँ. ऊपर खगोलशास्त्र के कोष्टकों के अलावा कुछ दीखता ही नहीं है. मानो एक साथ अनेक शून्यों का एक गिरोह ऊपर झूल रहा होता है. पवन अभी नीचे नदियों के दामन में छिपकर बैठा है. उस नमी से वह भारी हो गया है. इसी कारण यहाँ इतनी ऊँचाई पर इतनी अधिक नीरवता है. इस नीरवता से घबराकर मरण अपने बिना हाथ वाले कंधों को हिलाता है- ठीक अखाड़े में उतरे हुए किसी पहलवान की तरह. उसका यह ठूंठा रोष देखकर मुझे बड़ी हँसी आती है. तभी पवन नीचे से ऊपर पहुँच जाता है. इसका स्पर्श होते ही आकाश की नील-यवनिका सरक-सरक हो जाती है. पवन अब अधिक निकट आता जा रहा है. अब यह कान के पास होनेवाले मौनालाप जितना निकट आ गया है. इसके स्पर्श से नदी के जल को पहचानता हूँ. मध्यरात्रि के सूने चौराहे की निर्जनता को पहचानता हूँ,

समुद्र की अविराम रटन को सुनता हूँ. पर्वत की नोक पर दुःख के पहाड़ को तौलकर मैं स्वयं तुल रहा हूँ. अपाणिपाद, मुखहीन और चक्षुविहीन पवन का आधार ही क्या ! फिर भी हाथ लम्बाते ही किसी परिचित स्पर्श का आभास होता है और मैं पूछ उठता हूँ : 'कौन मृणाल ! !

सोलह

समुद्र अब आँसू से तर-ब-तर रूमाल के सदृश्य पड़ा हुआ है. आदि काल के किसी विराट सरिसृप की भाँति पेट के बल सरकता हुआ कुहरा धीरे-धीरे आगे बढ़ रहा है. थोड़ा-सा ऐसा भाग जो उससे अनावृत्त है, रात के अंग पर दिन के दाग़ जैसा लग रहा है. खेलते हुए बालक के हाथ से फिसलकर गोली जैसे

कहीं गायब हो जाती है वैसे ही चाँद कहीं लुढ़क गया है. वृक्षों की परछाइयाँ सिमटकर वृक्षों के कोटरों में ही छिप गई हैं. केवल वृक्षों के तने दिखाई पड़ रहे हैं. कुहरे के सरकने के अतिरिक्त कहीं कोई आवाज सुनाई नहीं देती है. इसीलिए मरण के श्वासोच्छ्‌वास का अतिरेक ऐसा हो जाता है मानो वह बैठा-बैठा हाँफ रहा हो. कुहरे की लम्बाती जीभ सब कुछ लीलती जा रही है. इस कुहरे में आदिकाल के जल के साथ किये गये अत्याचार की स्मृति है. यह सूर्य के विरुद्ध उस जल का ही विद्रोह है.

कुहरा अचानक झरोखे में आकर अटक गया लगता है. खिडकियाँ अंधी हो गई हैं. झूला कुहरे की सीलन के कारण जंग खा गया है. घर की बंद हवा को कुहरा अपनी भदभदी टकोरों से जगाता है. कहीं से उस हवा का धक्का मुझे भी लगता है. इस कुहरे में मै भी जैसे अपाणिपाद बन जाता हूँ. मुझे आशा बंधती है कि शायद यह कुहरा ही मुझमे डेरा डालकर बैठे हुए मरण का गला घोटेगा. मैं मरण की गतिविधि देखता रहता हूँ. वह अपने कंधे हिलाता है. कभी अपने पीले दाँत दिखाता है. अब उसकी आँखें चमकती नहीं हैं. पशु की तरह उसका गुरगुराना भी कम हो गया है. वह अपने स्वयं के भार के साथ लिपट गया है. उसका यह परिश्रम मुझ पर जुल्म ढाता है. मै एक हल्की नमीयुक्त झीनी चादर में लिपट जाता हूँ. बचपन में जब बुखार आ जाया करता था और उसके जोर के कारण अनिद्र आँखों पर माँ की अंगुलियों के पोर जैसी नींद टपकाते थे वैसा ही यह स्पर्श लगता है. अनिद्रा का तीक्ष्ण तेजाब धुआँ बनकर उड़ जाता है. चारों ओर से घिर जाने की यह अनुभूति मुझ में सोई हुई वासना को जगाती है और कुहरा अपनी शतलक्ष जिह्वा से चाटचाट कर उस वासना को उद्दीप्त करता है. यह इच्छा सिर उचकाती है और मैं पूछता हूँ : 'कहाँ हैं मृणाल!'

सत्रह

झरोखे के दूसरे छोर पर खड़ी है नमिता. उसकी रेशमी साड़ी चाँदनी में चमकती है. लगता है वह किसी की प्रतीक्षा कर रही होगी. वह धीरे–धीरे पास आती है, एकाएक मुझे देखते ही हँसकर कहती है 'ओह तू !' मुझे देखकर शायद वह निराश हुई होगी. उसकी देह पर के रेशम की मोहिनी डालनेवाली शेखी — उसके तन्तुओं को लम्बाकर स्वप्नों के छोर विस्तृत कर रही है. रेशम उसकी देह को मृदुतापूर्वक सहलाता है. उसकी सलवटों में रोमांच की झलक है. वह निर्लज्ज बनकर नमिता की देह–गठन की चुगली करता है. रेशम की चंचलता रह–रह कर बिजली की तरह दौड़ जाती है. मुझमें बैठे हुए धुन्ने मरण के मुँह से लार झरती है.

नमिता पूछती है– 'कहाँ गये सब ?'

मेरी दृष्टि समुद्र की ओर घूमती है. वह भी समुद्र की ओर देखती है. तभी वहाँ एकाएक पवन आकर उसके वक्षस्थल को उघाड़ जाता है. मंत्र-बल से चुपचाप बिठाकर रखे स्तन चंचल हो उठते हैं. इससे नमिता हड़बड़ा जाती हैं. कुछ अन्यमनस्क होकर वह साड़ी का पल्लू फिर से हाथ में लेने का प्रयत्न करती है. पर चंचल, कोमल और लिसलिसी मछली जैसा रेशम उसकी अंगुलियों में से सरक जाता है. तभी पवन दूसरी ठिठोली करता है. फरफराती लट उसकी आँखों को तंग करती है. दूसरे हाथ से वह लट को ठीक करती है. मैं उसके हाथ का वह घुमाव और उसके दबाव से कुहनी के ऊपरी भाग में उभर आई उसकी पुष्टता देखता रह जाता हूँ.

नमिता निःश्वास छोड़ती है. मरण जीभ लपलपाता है. नमिता की आँखों में पँख फड़फड़ाकर उड़ान भरने के आकांक्षी पंछी की बेचैनी है पवन रेशम के साथ कुछ गुपचुप बातें करता है. उसकी यह फुसफुसाहट मेरे कानों में पड़ती है. यह पवन सागर के बीचोंबीच जाते हुए किसी जहाज के पाल के भीतर से उठता हुआ कोई प्रलाप सुनकर आया है. नमिता की देह पर रेशम की झांई ऐसी लगती है मानो मोहकता का झीना अस्तर हो. रेशम और अधिक वाचाल बन जाता है. पर नमिता मानो यह सब सुनती ही नहीं. नमिता हाथ ऊँचा करती है, मानो संकेत करके दूर से किसी को बुला रही हो. झरोखे के कटहरे पर वह थोड़ी झुकती है. उसके पैर डगमगा जाते हैं और संतुलन बिगड़ जाता है. कटहरे के दूसरी ओर न गिर पड़े इस कारण वह मेरी ओर झुक जाती है. दूसरे ही क्षण उसका भार मुझ पर आ गिरता है. यह जानते हुए भी कि यह नमिता है, मैं पूछ लेता हूँ :
‘ कौन मृणाल ? ’

अठारह

मरण अपने नाखून से नोंच–नोंचकर मेरे पाप खोज रहा है. कुरेद रहा है. पाप नीले पड़ गये हैं, चिमडा गये हैं. मरण उन्हें अपने पैरों के नीचे दबाकर खड़ा हो जाता है. पापों का कोई चेहरा नहीं होने से मैं उन्हें पहचान नहीं पाता हूँ फिर भी वे मेरे हैं इसका ज्ञान मरण मुझे करा देता है. मेरे पापों को वह कभी–कभी वात्सल्य भरे चुम्बन देकर उन्हें खेलाता है, उन्हें ऊपर उछालता है. पर कभी-कभी उसे उन पापों पर संदेह भी हो जाता है. कदाचित् अंतिम क्षण में वे प्रतिकूल हो जावें!

कौन जाने कितने ही पाप मैंने महानगर की विषाक्त हवा के साथ स्वासित कर लिए होंगे. कई बार ये पाप अपने कछुए जैसे छोटे-छोटे पैरों से मेरी शिराओं में चलते हैं. किसी समय हृदय के चारों ओर कुंडली मारकर बैठ जाते हैं. कभी अपनी फुत्कार से झुलसाते है तो कभी धुएँ की तरह गोलाकार छल्ले बनकर फैलते रहते हैं. क्या कितने ही पाप किसी प्रियजन की अँगुली पकड़कर चोरी–छिपे भीतर प्रवेश नहीं कर गये होंगे? कभी ये सब गंधक के ढेर की तरह थोड़े से अग्नि–स्फुलिंग की राह देखते हैं और कभी सब विराम लेने लगते हैं. मैं पलक झपकाने का साहस करता हूँ. श्वास पुनः अपनी वस्तुस्थिति में आता है. मेरे थमे चरणों में परिचित-पथों की स्मृतियाँ सुगबुगा उठती हैं. हजारों साल पहले किसी प्राचीन नगर के मलबे के नीचे दबा हुआ मेरा अश्मीभूत–प्राण मानो अंगड़ाई लेकर पुनः खड़ा हो जाता है और लगता है इसके साथ उस नगर के सारे पाषाण खड़े हो जायेंगे, अतीत, पत्थर की दरारों में से सिर निकाल कर साँसें लेगा, कई वर्ष-समूह वापस लौट आयेंगे.

एकाएक सारा भार हल्का हो जाता है. रक्त गाता–गूँजता बहने लगता है. आँखें इस सृष्टि के गीत गाती हैं. प्रेम–विह्वल हाथ पत्थर के खम्भों को भी आलिंगन करने के लिए अधीर बन जाते हैं और अंगुलियाँ मंदिर के घंटे की तरह झँकृत हो उठती हैं. मुझको आशा बँधती है कि अब मेरी वाणी शाप–मुक्त हो जायेगी. मैं उसके सजीव होने की धड़कन सुनता हूँ, कान लगाकर सुनता हूँ. चकित हरिन की तरह शब्द कूद पड़ते हैं : कहाँ है मृणाल !'

उन्नीस

किसी समय मैं पत्थर के साथ पत्थर होकर रहने जाऊँगा. पत्थर में एक प्रकार की शाश्वतता होती है. सूर्य से पिघल नहीं जाना, चंद्र से ललचाकर पत्थरपन खो नहीं बैठना, चाँदनी के जादुई स्पर्श से स्वप्न बनकर उड़ नहीं जाना, जल के थपेड़ों को स्नेह-स्पर्श मान लेना, जल के अविरत प्रणय-निवेदन को सुनते रहना, हृदय को इतना छिपा देना कि सभी मुझे हृदय हीन ही समझें, केवल वज्रपात ही हृदय को विदीर्ण कर पाये, पवन की चंचलता को सह लेना, फिर से उसका हाथ पकड़कर मुक्तविहार करने की भूल नहीं करना, बिजली, हृदय भेदने के लिए आये तो जैसे कुछ हुआ ही नहीं, ऐसा मानकर घुन्ना बनकर बैठे रहना, ज्वालामुखी और उल्का की स्मृति को सिर उठाने ही न देना—

मरण मेरी इस तरंग को सुनता है, धूर्ततापूर्ण हँसी हँसता है. तदनन्तर पत्थर की तरह स्थिर हो जाता है. मुझे उसका भार अधिक लगने लगता है. उसका यह ढोंग अधिक नहीं चल पाता है. एक पत्थर दूसरे पत्थर को निष्पलक देखता रहता है इस तरह वह मुझे देखता रहता है. जल की धारा दो पत्थरों को जोड़ती है. किसी समय जल पत्थर को गोद में बिठाकर ले जाता है. पर मैं नदी किनारे का पत्थर नहीं हूँ. नदी अपना प्रवाह बदलकर दूर चली गई है. मनुष्य को अँगुली-निर्देश करके रास्ता बताने वाला मैं मील का पत्थर नहीं हूँ. मनुष्य के सम्पर्क से मैं बहुत दूर हूँ. पत्थरों के साथ चुने जाने जितना भी मेरा निकट का सम्बन्ध नहीं है. पास के पत्थर और मेरे बीच पोलापन है, जिसमें पवन अपना ऊधम मचाता है; कभी वह इसमें से हू-हू करता हुआ

भागता है. दूर से किसी को ऐसा लगता है कि पत्थर ही बोले हैं अथवा और कुछ ! पर हम आकाश के नक्षत्रों की तुलना में अधिक मौन हैं. दो नक्षत्रों के मध्य का शून्यावकाश घनीभूत होकर हमारी काया में एकत्र हो गया है. हम यहाँ सूरज की ठरी हुई बूँदों की तरह बिखर गये हैं. पवन हमें तीक्ष्ण बनाने के लिए जूझ रहा है और हम अपनी कठोर तीक्ष्णता के लिए गालियाँ खा रहे हैं पवन की अंगुलियाँ मेरे शरीर पर से कुछ पढ़ने के लिए उसी तरह जूझती है जिस तरह कोई अंधा अक्षर उकेलने के लिए प्रयत्न करता है. उकेलने-उकेलते पवन कुछ बकता जा रहा है. मैं तो उसमें का कुछ भी कान पर नहीं धरता हूँ पर कई बार उसके एकरस गुंजन का नशा चढ़ जाता है, कभी जल के एकरस कलकल निनाद का नशा चढ़ जाता है. इस नशे के अधीन होकर मैं बोल उठता हूँ : 'मृणाल !'

बीस

कहीं कोई गा रहा है ऐसा सुनाई देता है. पर उसके स्वरों में धनुष से वेगपूर्वक छूटे हुए किसी वायु-वेधक बाण की सीटी बज रही है. कई स्वरों में सुबह के पूर्व झरने वाली ओस के सदृश्य भंगुर आर्द्रता होती है. इस गीत के स्वर तीक्ष्ण भेदकता है. उस स्वर को हृदय में सहलाकर रमाया नहीं जा सकता है. केवल उसके वेग की रेखा मुझे खरोंच जाती है. उसकी चमचमाहट जैसे उस स्वर की प्रतिध्वनियाँ पैदा किया करती है. वह स्वर जैसे एकाकी है. वह आकाश में आकाश बनकर बिखरता नहीं है. जिसे वह भेदता है उसमें तदाकार होकर समा नहीं जाता है. उसकी पृथकता की अणी उसमें चुभ जाती है और फिर वह स्वर उस बाण की तरह काँपा करता है.

देखता हूँ कि इस स्वर को सुनता हुआ मरण पुनः दाँत किटकिटा रहा है. शायद ताल देने की उसकी वह रीति होगी. उसके ताल की कर्कशता मैं सुना करता हूँ. गीत का वह स्वर मानो अभी तक किसी लक्ष्य को भेद नहीं सका है, अभी वह उतने ही वेग से केवल आगे बढ़ता जा रहा है. उसकी प्रलम्ब 'श' कार श्रुति अधिकाधिक तीक्ष्ण बनती जा रही है. वह अधिकाधिक सूक्ष्म बनाता जा रहा है. उसकी यह सूक्ष्मता मुझे ललचाती है. मैं एकाएक चंचल हो उठता हूँ. दो ओठों के गोलाकार में से, दो धनुषाकार ओठों के मध्य से, मुक्त होकर धीरे-धीरे सूक्ष्म से सूक्ष्मतर बनकर अदृश्य हो जाने की लालसा जागती है इस विह्वलता से मैं हचमचा उठता हूँ.

मेरी यह स्थिति देखकर मरण के ठूंठे कंधे फिर से हिलने लगते हैं. उसके दाँतों में से सीटी बजने की आवाज सुनाई पड़ती है, मैं अपने मन

को समझाता हूँ, वह स्वर अब पुनः लौटने का नहीं. वह स्वर वहाँ उस समुद्र के अंतर में जाकर समा गया होगा. उसकी असंख्य तरंगों में उसके तरंग-वर्तुल शमित हो गये होंगे. पर हृदय तो ऐसा कुछ स्वीकार नहीं करता है. मैं बिलकुल जड़वत् खड़ा रहता हूँ यह सोचकर कि मुझे कुछ भी लेना देना नहीं है.

फिर सब स्तब्ध हो जाता है. धीरे–धीरे एक अपेक्षा आकार लेती है. वह स्वर प्रदक्षिणा करके पुनः लौटे तो मैं अपने हृदय में उसका स्वागत करूँ, फिर भले ही वह चुभ कर थर–थर काँपता रहे. मैं उन आन्दोलनों को सुनता रहूँगा. शायद उन्हीं आन्दोलनों में फिर से सुनूं यह नामः– ' मृणाल '.

इक्कीस

सामने की दीवाल पर एक साथ कई परछाइयाँ उभर आती हैं. शायद सभी लौट आये है. फिर से सब की आवाजें गूँज उठती है. 'चील्ड बियर' की बोतलें खाली हो रही हैं. गिलास के मटियाले लाल रंग में झाड़फानूस का प्रकाश तैर रहा है. अस्थिर हाथों में वह गिलास हिल रहा हैं, छलक रहा है. गिलास को तिपाई पर से उठाते समय नीचे छोटा-सा वर्तुल मुद्रित हो जाता है. धुएँ की रेखाएँ ऊपर जाती हैं. बाद में रेखाएँ नहीं रहती, वे मानो एक बादल में परिवर्तित हो जाती हैं. मेधा की आँखों में अस्थिरता है. वह 'बियर' का गिलास ओठो से लगा रही है; जिसमें से थोड़ा बियर पीते-पीने ओंठ के बाहर बहकर ठुड्डी की नोंक पर होता हुआ दो स्तनों के मध्य गड्ढे में उतर रहा है. मनोज अपनी जीभ से बियर को चाट लेता है. सब ठहाका मारकर हँसते है. मेधा की मंद ज्योत-सी आँखें टिमटिमा रही हैं. कोई मेधा से पूछता है: 'सुधीर नहीं है !' मेधा कंधे सिकोड़कर कहती है: मैं क्या जानूं !'. फिर भर्रायी आवाज में कहती है: 'होगा किसी मेरी, डोली, रोशन अथवा रीता के साथ.' मनोज पूछता है: 'कल सबेरे चार बजे जब हम उसे वहाँ लाये तब तू दरवाजा खोलने तक को तैयार नहीं हुई ! मेधा विचित्र टिचकारी करके जबाब देती है. उसके बाद वह लड़खड़ाते कदमों से झरोखे मे पहुँचती है. उसके पीछे-पीछे पहुँचती है अमिता. अमिता उसका हाथ थामकर सहारा देती हैं. मैं एकाएक खिन्न हो उठता हूँ. मन होता है कि भीतर जाकर झाड़फानूस फोड़ डालूँ. गिलासों का चूरा-चूरा कर डालूँ. इन सब की सड़ी खोपड़ियों को तोड़ डालूँ. इन पर शराब छिड़कूं और फिर दियासलाई लगाकर चला जाऊँ—

बावीस

किसी समय शून्यता का इन्द्रियघन स्पर्श होता है. किसी पुष्ट स्तन अथवा सुडोल गोलाकार नितम्ब के सदृश्य उसकी आकृति मेरे दोनों हाथों के बीच में गिरफ्त हो जाती है. उसके प्रीतिकर दाब से मेरी हथेली झुनझुना उठती है. मेरी अंगुलियाँ उसकी मांसलता में गहरे और गहरे छिप जाने की इच्छा करती हैं. पर बाद में जिस तरह किसी कच्चे फल को दाँत से काटकर उसकी तूरी खटास चखने का मन होता है उसी तरह उस शून्यता पर मुझे अपने दाँत गड़ाने का मन होता है. मेरी इस इच्छा के सामने मरण खिखियाता है. मेधा शून्यता का ज्वार बनकर मुझ पर छलकती है. क्षण भर के लिए मैं स्वयं उस उछाल के साथ उछलता हूँ. उछलकर निरा बुदबुद बन जाता हूँ. पर इस बुदबुद के भीतर मरण की चमचमाहट नज़र आती है. फिर उस ज्वार के साथ मैं नीचे गिर जाता हूँ. उसकी हज़ार–हज़ार अंगुलियों को फैलाकर रेतीले फेनिल जल के साथ मैं भी फैल जाता हूँ. हाथ के नीचे से भीगी हुई रेत फिसल जाती है, मोजें त्वरित गति से भाग जाती हैं. केवल फेन की सफेदी सदृश्य मैं बच जाता हूँ. पर शून्यता को ठोस अपारदर्शी विस्तार के रूप में भी देख चुका हूँ. उस विस्तार का कोई छोर नहीं दीखता है. उस शून्यता की शिला पर उसके ठोसपन को उकेरने का साहस भी किया है पर लहू–लुहान अंगुलियाँ लेकर वापस लौटा हूँ. शून्यता के साथ तदाकार होने के प्रयत्न में ही बार-बार उसके उद्धतता भरे धक्कों से दूर फेंका जाता रहा हूँ. मेरे विचारों पर शून्यता का रंग चढ़ गया है, इसी कारण तो कभी-कभी इस शून्यता से बचने के लिये घने वन की स्निग्ध निविड़ छाया के सदृश्य किन्हीं आँखों की माया का आश्वासन प्राप्त

तेईस

आज ईश्वर आकर कान में कह रहा है 'मुझे मनुष्य होना है'. मुझे लगता है कि इसके लिए कोई उपाय खोज निकालना चाहिए. गर्भवास में औंधे सिर लटकने का दुःख, जन्म के बाद का रुदन, शिशुकाल की असहायता–क्या यह सब वह सह सकेगा ? सबसे दुष्कर कार्य तो उस के लिए आँसू तलाश कर पाने का है.

पर इसके लिए कुछ ऐसे विशिष्ट पाप जो मनुष्य ही करता है, तलाशने होंगे. ईश्वर के पापों में अमानुषत्व रहता है. मैं इस चिन्ता में पड़ जाता हूँ. ईश्वर मेरे सामने याचना भरी दृष्टि से ताक रहा है. वह मानव-स्पर्श को पहचाने, मेधा के निःश्वास से जरा झुलसे, नमिता के अवरुद्ध आँसुओं के भार को पहचाने, सुधीर की उदासीनता के तल में डुबकी मारे, अशोक की विफलता के छिछोरेपन को समझे और मृणाल—

इस क्षण म्लान चाँदनी से आच्छादित पृथ्वी के मुख पर जो ग्लानि है, उद्वेलित समुद्र के अंतर में जो विक्षोभ है, हवा में व्यापा हुआ जो हाहाकार है, दूर रहकर पृथ्वी के दुखों को जानने की सूर्य की जो जलन है–इस सबको समा लेने जितनी विशालता ईश्वर के हृदय में होनी चाहिए, ईश्वर मनुष्य होने के लिए जूझ रहा है, उसके अवतारों की कथा हम जानते हैं. पर इस समय शायद उसकी पाप-बुद्धि का भार बढ़ गया है, इस समय मनुष्यों के साथ मिलकर सहानुभूति प्राप्त करने लिए वह लाचार हो गया है.

वह अणु है, विभु है. सर्व प्रथम तो उसे निकट का भी कोई न सुने इस तरह सरकते हुए, हल्के निःश्वास के रूप में आना पड़ेगा. फिर

आँसुओं की धुँधली झाँई के रूप में आँखों में बसना सीखना पड़ेगा. मनुष्य जिस भार को उठाकर डग भरता है, उसी प्रकार उसे चलना सीखना पड़ेगा.

मैं ईश्वर को धीरे-धीरे खिसकते हुए देखता हूँ. शायद यह उसकी बचकानी तरंग ही थी. मरण यह सब सुनकर मुँह फेर लेता है. ईश्वर को खिसकता देखकर वह प्रसन्न होता है. ईश्वर कितनी कलुषितता सह सकेगा? मनोज, अशोक, मेधा, नमिता, गोपी—सब एक दूसरे को अपने विशिष्ट कलंक के द्वारा जानते हैं. कलंक को भूषण बनाये बग़ैर धारण करना सर्वाधिक दुष्कर कार्य है. पर ऐसा ही कुछ तो तू करने नहीं गई थी न, मृणाल?

चौबीस

मेरी परछाईं के भार के सहारे मेरा नाम मुझसे चिपका हुआ है. मेरा मरण भी मेरे नाम का उच्चारण करने के लिए जूझ रहा है. नाम के साथ जुड़े रहने की बेचैनी जब कईबार असह्य हो जाती है तो मैं उसे कोई न जान पाये, ऐसे हल्के निःश्वास की एक फूंक से उड़ा डालने का प्रयत्न करता हूँ. नाम कईबार नागफनी की तरह उगता है. अपने कांटेदार पंजों के द्वारा यह अपना आत्म-विज्ञापन करता है. मैं पंजों को मुट्ठी में लेकर बंद नहीं कर सकता हूँ.

नाम के कारण ही कितना सब मेरे साथ लगा रहता है. बचपन में जिस नदी के पानी में डुबकियाँ लगाई हैं क्या उसका कलकल करता पानी मेरा नाम नहीं पूछता ? वन के भीतर सनसनाहट के साथ बाहर आनेवाला पवन क्या नाम पूछने के लिए थमता नहीं था ? उस समय तक तो नाम का तिनका तक नहीं उगा था. फिर कब से इसका दाना बँधने लगा ? यह समझ में नहीं आया, नाजुक से दो ओठों पर से तितली की तरह उड़ा. फिर उसमें किसी ने अपनी स्वर-लहरी पूर दी. इस तरह यह बहुत सारी माया का भार वहन करने लगा. बाद में किसी ने कहा 'चिन्ता मत कर, नाक की नथ के साथ तुझे सँभालकर रखूँगा'. पर फिर, किसी समय नाम को अनेक तंतुओं से लिपटता हुआ देखकर जीव घबराने लगा. इन तंतुओं को काटने इतनी शक्ति कहाँ से लाऊँगा ? ऐसा शाप देने के लिए मैं किसको उत्तेजित कर सकूँगा ? इस तरह दिन बीतते रहते है, रातें बीतती रहती हैं. और नाम का भार बढ़ता जाता है. फिर तो यह मेरी परछाईं से मिलकर गुफ्तगू करता है. मै फेंकता हूँ और परछाईं इसे पकड़ लेती है. इसे भूलने

के लिए मैं अपने ओठों से दूसरा नाम रटता रहता हूँ. कभी भगवान का और कभी ऐसा जो दूसरों को बताने के योग्य न हो. बाद में तो यह झुलस गया, खरोंचा गया, घायल भी हुआ — पर रहा ऐसा का ऐसा. रात्रि में, मध्यरात्रि में अकेला जागता हूँ. कोई देखे नहीं इस तरह इसे अंधकार के साथ घोंटकर एक कर देने के लिए जूझता हूँ. पर पानी में तेल की तरह यह अंधकार में तैरता ही रहता है. एक बार मन में ऐसी आशा भी कुनमुनाई थी कि कोई इसे अपने नाम के साथ मिला ले. पर यह सोचकर कि फिर किसी समय काम आयेगा, फिर तो कई वर्षों तक गुदने की भाँति इसे छाती से चिपकाकर फिरता रहा. अब मुझमें बैठा हुआ मन अपने गोपनीय स्वर में इसका जुगुप्सात्मक उच्चारण करता है जिसके कारण अकुला जाता हूँ. इससे बचने के लिए असहाय बालक की तरह चीख उठता हूँ : 'मृणाल'.

पच्चीस

मै देख रहा हूँ उन चेहरों को—युद्ध की करुणा से नहीं, शिव के क्रोध से नहीं, विष्णु की 'मैं सब जानता हूँ' इस धूर्तता से नही. ये सब मानव शरीर-इन वेरियस स्टेइजिस आव डिकम्पोजिशन. वर्षों से चर्बी इकट्ठी कर रहे है. आँखों के नीचे कालिमा, लपलप करके वासना को चाटने के लिए बेचैन ओठ, मंद तेज आँखों में लाई हुई कृत्रिम चमक. गोपी हँस रही है—मानो एक साथ अनेक 'टीस्यू पेपर' पवन में खड़खड़ा गये हों. फिर अपने हास्य को स्वयं में ही समेटकर रख लेती है—इस हिसाब से कि फिर कभी काम आयेगा. मेधा हँसती नहीं है, वह आँखों से देखती नहीं है. उसका शरीर अन्य के स्पर्श से ही श्वास लेता है, नहीं तो जड़ होकर रह जाता है. मनोज उसकी स्थूलता से ही दबता जा रहा है. उसकी आँखें आधे तक दब चुकी है. उसकी आवाज मांस के ढेर को ठेलती हुई बाहर आ रही है. उसमें जरूरत से ज्यादा पके हुए आम-सा पिलपिलापन है. अशोक सब कुछ सरज सकता है फिर भी जानबूझ कर कुछ न करने के आभिजात्य की खुमारी को सहता रहता है. कभी-कभी यह खुमारी उसको दंश करने लगती है. तब वह वाचाल बन जाता है. उसके शब्द फाड़कर फेंके गये कागज के टुकड़ों की तरह उड़ जाते हैं. नमिता खुद को खुद के ही गर्भ में पाल रही हो ऐसी गंभीरता से घूमती फिरती है. मनोज अपनी धूर्त आँखों को हमेशा गोगल्स से ढक कर रखता है, उस के ओठ हमेशा इस तरह हिल्ते रहते है मानो वह कुछ चबा रहा हो. अशोक दूर-दूर नजर फेंक रहा हो इस तरह देखता रहता है. पर उसकी आँखें छिछली हैं. गोपी हास्य की हिलोर से सब जोड़ने का प्रयत्न करती

छब्बीस

टोला बने विषाद के झुण्ड अपनी अस्पष्ट बड़बड़ाहट से मेरे कान भर रहे हैं. उसके कारण दूर के समुद्र का आभास ढँक गया है. ऐसा लगता है शायद ये झुण्ड, मुझमें खिल रहे उस घाव की गंध से खिंचकर ही आये हैं. पहले तो मेरे घाव मुझसे ही छिपे रहते थे. रात मे किसी समय गुप्त रूप से एकाध टीस उनकी जानकारी मुझे करा जाती थी. पर अब तो वह पूरी बहार के साथ खिल रहा है. उसका यह विस्तार मुझे सीमित करता है. मैं अपने अस्तित्व को समेटकर एक कोने में छिपा रहता हूँ. पर मरण की लातमलात मुझे चैन नहीं लेने देती है. सब कुछ तन रहे, उसका तनाव मे अनुभव कर रहा हूँ. भंगुर कहलाने वाले देह के बंधन कैसे हठीले होते है! पर मैं किसी आशा का तिनका चबाते हुए बैठा रहता हूँ. उसका कोई स्वाद नहीं है. पर पशु की तरह जबड़े हिलाते रहना मानो अनिवार्य हो गया है.

हवा थम गई है. खिड़की पर से चन्द्र-पद दूर निकल गये हैं. झरोखे के दूसरे छोर पर अशोक की सिगरेट के धुएँ के छल्ले अत्यंत ही धुँधले दिखाई पड़ रहे हैं. कमरे के भीतर से किसी गानेवाली की ठुमरी का स्वर सुनाई दे रहा है. वह स्वर मुजरा भरते, तिरछी नजर करते, मान करते, मनाये जाने की राह जोते, आखिर में सभी अंदाज समेटकर थम जाता है. फिर नया अनुनय शुरू होता है. इस अंधकार में किसी निशाचर की तरह वह स्वर घूमा करता है. इसके बाद अकेला पड़ जाने का भान होते ही घबरा कर झीना-सा रूप धारण कर किसी बिल में छिप जाता है.

सत्ताईस

चन्द्र ढल गया है. मेरी परछाईं अंधकार में सिमट गई है. हवा अपने स्पर्श से मेरे शरीर की रूपरेखा से मेरी पहचान कराती रहती है. मैं अपने मुँह पर हाथ फेरता रहता हूँ. नदियाँ और पर्वत बताने वाले किसी भौगोलिक नक्शे में हुआ करती हैं वैसी रेखाओं का मुझे स्पर्श होता है. उभरी हुई हड्डियों के बीच बने गहरे गड्ढे की पोल में अंगुलियाँ सरक जाती हैं. वे उस पोलेपन में से कुछ लेकर बाहर नहीं आती हैं. लुच्चा मरण हँसता है. इस पोलेपन में उसकी प्रतिध्वनियाँ गूंजती हैं. मेरी अंगुली के पोरों पर दीर्घ–काल के अनेक स्पर्शों का इतिहास अक्षुण्ण रूप में रखा हुआ है. ये सारे पोर वाचाल बनकर उस सारे इतिहास को पढ़ने जाएं उसके पहले ही मैं हाथों को पीछे खींच लेता हूँ. पर किसी अत्यंत छोटे पंछी की तरह मेरे डैने फड़फड़ाया ही करते हैं. मेरे व्यक्तित्व के बाहर जाकर स्पर्श की निकटता के संधिस्थल पर मिलन कराने का काम इन पोरों का है. अब वे दीर्घकाल से स्वयं में सिमटे हुए गूंछली बनकर पड़े हुए हैं. वे पोर स्पर्श के जिन संकेतों को लाया करते थे उन्हें पहचानने वाली चेतना मरण के भार के नीचे कुचला चुकी है. थोड़ी ही देर पहले मेरे मुँह के स्पर्श से अनुभूति की जो क्षणिक झलक प्राप्त हुई थी वह गायब हो जाती है. फिर भी इस अंधकार में निश्चिह्न होने के बावजूद मैं केवल वज़न के कारण ही अस्तित्व को टिकाये रखकर खड़ा रहता हूँ.

प्रभात की ओर ढलती रात का प्रहर कुछ हलका पड़ता है. अंधकार कुछ पतला पड़ने लगता है. ऐसे समय में मरण के उत्पात बढ़ जाते हैं.

ऐसे समय में वह मानो घुटकर छटपटाने लगता है. पहले तो बहुत बार ऐसे क्षणों में ही उसके साथ युद्ध करके उसे परास्त कर हंकाल देने इतना मुझमें उत्साह था पर उसके जाने के बाद उस स्थान पर जो नया पोलापन उद्भूत होता है उसे भर देने जैसा मेरे पास क्या है ! वैसा कुछ दिखाई नहीं पड़ा इसीलिए तो मैंने युद्ध करने के उत्साह को थपथपा दिया है. मरण इसे जानता है अतः धूर्तता पूर्वक हँस रहा है. पर किसी समय अकर्मण्यता और निराशा के भार के नीचे से थोड़ा बाहर निकलकर मैं प्रतीक्षापूर्वक टकटकी लगाकर पूछ उठता हूँ : 'तू मेरी समरता नहीं बन सकती, मृणाल ?'

अट्ठाईस

घर को रास्ते के साथ एकाकार होता हुआ देखकर मैं बाहर निकल गया हूँ. घर में पड़ते कदमों की आवाज और रास्ते में पड़ते कदमों की आवाज में भिन्नता होती हैं. रास्ते पर के कदम दिशाएँ खोजते हैं. उन कदमों में दूर तक जाने की तत्परता होती है. उन कदमों का लय अनेक प्रकार का होता है. घर के कदम एक दीवाल से दूसरी दीवाल तक ही जाते हैं. बहुत-बहुत तो वे देहरी लाँघ जाते हैं. खिडकी के सामने जाकर वे अटक जाते हैं. वे कदम, दूसरे कदमों को काटते नहीं हैं. कभी-कभी वे कदम एक दूसरे के आधार से आगे बढ़ते हैं. इससे उन कदमों का सम्मिलित स्वर संगीत बन जाया करता है.

पर अब तो घर रास्ते से ओतप्रोत हो गया है. दीवालें कूबड़ी बनकर झुक गई हैं. देहरी पर से रास्ता दौड़ गया है. दीवालों के साथ खिडकियाँ भी अपनी सीमा-रेखाएँ छोड़कर रास्ते की लम्बाती दो समानान्तर रेखाओं में खो गई हैं. दीवाल के बीच की तमाम मृदु और गहराती आवाजें अब रास्ते के कोलाहल में निराश्रित होकर चाहे जिसकी चपेट में आकर कहीं की कहीं दूर जा गिरी हैं. बेचैनी से दरवाजा खोलकर भीतर प्रवेश करना, खिड़की पर खड़े होकर प्रतीक्षा करना, दरवाजा बंद करके एकान्त को निविड़ सहचार से छलकता कर डालना, आकाश के हरतक्षेप को छप्पर के माध्यम से रोकना, सूर्य-चन्द्र के प्रवेश पर नियंत्रण रखना - इस सारी माया में से एक झटके के साथ मैं बाहर फेंका गया हूँ. रेल की पटरियों की तरह मैं कहीं जाता नहीं, फिर भी भागता रहता हूँ.

आस्फाल्ट के रास्ते की निष्प्राणता मेरे पैरों के तलवों से टकराया करती है. मुलायम रेशमी धूल की गोद में पैर नहीं पड़ता है. जीभ निकालकर हाँफते रास्तों की अंधी दौड को मैं विवश होकर देखा करता हूँ. रास्ते के मोड मेरे मन में प्रलोभन जगाते हैं. तब मैं कहीं छिटक न जाऊँ इस भय से सावधान होकर मरण मुझे देखता रहता है. वह पैंतरा भरकर बैठा होता है. सारे मोड़ जैसे मुझमें ऐंठते हैं. उछलते हैं, फिर भी मोड़ आता है. तब उस अर्धवर्तुल के दूसरे छोर पर तेरा आभास पाकर पूछ बैठता हूँ : 'कौन मृणाल है !'

उन्तीस

गोपी वाचाल है. वह मेरा हाथ, हाथ में लेकर काँपती नहीं है. उस के हाथों से अनेक हाथों का स्पर्श हो चुका है. पर उसकी अंगुलियाँ सतर्क है. फँसी हुई अंगुलियों को कब अलग कर लेना वह जानती है. हँसते-हँसते ही वह ऐसा कर सकती है. मेरा हाथ हाथ में लेकर वह प्रभात के झीने अंधकार में कुछ देखने का प्रयत्न करती है. फिर मेरे हाथ की रेखाओं को वह अँगुली से पहचानने का प्रयत्न करती हो ऐसा दिखावा करती है. हँसते-हँसते कहती है : तेरे पिछले जन्मों की बात का मुझे पता है. तू गणिका के घर का तोता था. उस गणिका के घर जो भी आता तू अपनी कर्कश आवाज से उसका स्वागत करता था. अर्ध-निमीलित आँख से नाच, मुजरे देखता, उत्तेजित होकर पिंजरे की सलाखों को चोंच मारता, कभी-कभी वह निराश, थकी-हारी गणिका तुझे पिंजरे से बाहर निकालकर अपनी हथेली पर बिठा लेती, तेरे साथ बातें करती, और आँसू ढारकर अपनी जलन निकालती. एक दिन गणिका ने तोते से कहा, 'मेरी आँखें फोड़ डाल. तेरी चोंच क्या इतना भी नहीं कर सकती?' तोते ने दयाकरके गणिका की आँखे फोड़ डालीं. दूसरे दिन गणिका के प्रेमी ने आकर यह देखा. तोता गणिका के कंधे पर ही बैठा था. उस प्रेमी ने गुस्से में में आकर तोते की गर्दन मरोड़ दी. फिर दूसरा अवतार हुआ. गणिका बनी असंख्य रूप-रूपों की अवतार जैसी कुमारी और तू बना ब्राह्मण का कुमार. दोनों दूर, फिर भी स्वप्न में एक दूसरे को दिखाई दें. कुमारी युवकों को देखती, आँख से आँख मिलाती, जिसे

ढूँढती उसे न पाकर निराश होती. उधर वह कुमार भी सभी ओर घूमता और ढूँढता. पूर्व जन्म की लालसा भीतर ही भीतर पीडती रहती है. उधर कुमारी विवाह योग्य हो गई. प्रेमल माता पिता ने उसका विवाह कर दिया. देवकुंवर जैसा पति है. महल जैसा घर है. फिर भी कुमारी को चैन नहीं है. उधर ब्राह्मण कुमार की भी शादी हो जाती है. पर पूर्व जन्म की स्मृति अभी भी उसके मन में कचोटती रहती है. उसे न दिन को चैन और न रात को चैन. दोनों अनमने होकर जीते हैं. एक दिन अचानक दोनों की भेंट हो गई, नज़रें मिलीं, तार जुड़े. पर यह तो कलियुग ठहरा. संसार के अनेक जंजाल. बंधन तोडना किस तरह? आखिर बहुत यातनाएँ भोगीं और अकाल ही मरण-शरण हो गये. फिर नया जन्म. इस जन्म में तो तूने ढूँढ लिया है न ? अथवा अभी खोज-खबर चाहूं है ? मैं कुछ भी नहीं बोलता हूँ. वह अपना मुँह मेरे कान के पास लाकर कहती है : ' नाम बताऊँ ? मृणाल. '

तीस

नमिता को खड़ी हुई देख रहा हूँ. पवन में फरफराती उसकी लट का एक छोर किसी वन में जाकर मिल जाता है. समुद्र के आभास के साथ उसकी दृष्टि की चमचमाहट मिल जाती है. उस का उच्छ्वास किसी ऊँचे पर्वत के शिखर की निर्जनता की प्रदक्षिणा करते–करते पवन के साथ मिल जाता है. उसकी काया की रेखाएँ किसी समय एक विशाल आकाश बनकर विस्तृत हो जाती हैं. पर इस सबके बावजूद नमिता, नमिता है. समुद्र, आकाश और पर्वत की गरिमा, विशालता और निर्जनता को मिलाकर घोटने से बनी है. पर उसके कंधे पर हाथ रखा जा सकता है. मेरी ऐसी इच्छा होती है. मरण मुँह विगाड़ता है. इस समय सब कुछ स्वच्छ है. मैं कुछ भी मटमैला नहीं करना चाहता हूँ. नमिता की रेखाएँ स्पष्ट हैं.

तो भी कभी ऐसा लगता है कि यह समुद्र फुहार के सदृश्य धुँधला और झीना बन जाये तो. यह पर्वत पारिजात के पुष्पों के ढेर के सदृश्य हो जाये तो ! आकाश की यह विशालता सिमटकर एक स्निग्ध दृष्टिपात में समा जाये तो ! मेरा बस चले तो नमिता के इर्द–गिर्द छोटी–छोटी गुड़ियों की एक टोली खड़ी कर दूँ. कोई हँसे, कोई नाचे, कोई मिचमिची आँखों से देखा करे, कोई नरबंका, कोई शमशेर बहादुर—उसकी दृष्टि इन कुमारों को ढूंढती रहे. सरपट घोड़े दौड़ें, सात सागर और नदियों को लांघ जाएँ, सात बियाबान जंगलों को भी पार कर जाएँ. राजकुंवर आ पहुँचें. घोड़ों के मुँह पर सफेद झाग. राजकुंवर मूछों पर ताव

देने उतरें. फिर तो मद झरते हाथी डोलें, अप्सराएँ नृत्य करें, किन्नर गाएँ, विद्याधर वाद्य बजाएँ. नमिता की दृष्टि हर्ष से नाच उठती है.

पर नमिता की दृष्टि स्थिर है. उस पर मैं अपनी परछाईं की छाया भर नहीं पड़ने देता हूँ. पर यदि नमिता बोले, यदि नमिता के हाथ चंचल बनें, लजाएँ, यदि नमिता मुस्कराए—मैं अनेक आशाओं से चंचल हो उठता हूँ. मेरे हाथों में गुदगुदी होती है. मेरी आँखें उड़-उड़ करने लगती हैं और बहुत यत्न करने पर भी ओंठ तो बोल ही देते हैं: 'सुन्दर !'

इकतीस

एकाएक वस्तु की ठोस अपारदर्शकता पिघलती जा रही है, रह गई है मात्र न्यूनतम अस्तित्व की रूपरेखा. मैं केवल अपने में गंठाई हुई मृत्यु के भास को लेकर खड़ा हुआ हूँ. यह रूपरेखा व्यक्तित्व के निजीपन को समाप्त कर देती है. वृक्ष, वृक्ष है. मनुष्य मनुष्य है. नदी थोड़ी दौड़ती रेखाएँ हैं, सभी आकार अभरख की पर्त जैसे पतले और खनकने बन जाते हैं. पतंग के कागज की तरह पवन हिला करता है. पृथ्वी के सारे जन्म दृष्टि के सामने खुले पड़ जाते हैं. धातु, जल और शिलाएँ जहाँ से अलग होते हैं वह बिन्दु भी दिखाई पड़ रहा है, समय की पर्त भी हल्की होकर फरफरा रही है. इतिहास की रेखाओं में अनेक भूकंप अंकित हो जाते हैं.

भौमितिक आकारों वाली उस भूलभुलैया में विहार करने के लिए मैं मरण को ललचाता हूँ, पर वह अपने ठोसपन को छोड़ने को तैयार नहीं है. मुझे भी उसके साथ जुड़कर रहना पड़ता है. मैं रेखाओं की रुद्ध गति का नक्शा देख रहा हूँ. ईश्वर के संचरण के पद–चिह्न भी यहाँ पढ़े जा सकते हैं. सूर्य–चन्द्र के दो बिन्दुओं को कोई छोटा बालक अब खेल–खेल में यहाँ से वहाँ खिसका सके ऐसी स्थिति है. रेखाओं के इस जंगल को देखते ही इसमें से कोई खाका खींचने की शरारत करने के लिए मेरा मन तैयार हो जाता है, पर ईश्वर का अदृश्य तर्जनी संकेत उसे मना करता है.

शायद रात्रि का शेष प्रहर प्रभात के प्रथम प्रहर से मिलता है, तब हमेशा सृष्टि अपने इस आदि सूक्ष्म रूप में सरक जाती होगी. मानव, प्रेत और देव क्षणभर के लिए एक दूसरी में मिल जाने वाली रेखाएँ बनकर रह जाते होंगे. वातावरण के पारदर्शक आवरण के नीचे यह सब ढँका हुआ है.

यदि इस आचरण को चीर कर फेंक दूँ तो ये सारी अरक्षित रेखाएँ रज–रज होकर उड़ जाएँगी. यह देखकर बदहवाश ईश्वर वह सब एकत्र करने के लिए भागमभाग मचायेगा. पहली बार उसके कपाल पर चिन्ता की रेखा उभरेगी. फिर शंकर का डमरू बज उठेगा. उसके चारों ओर थोड़ी अशरीरी आवाजें इकट्ठी होंगी. उसकी लम्बाकृति श्रुतियाँ थोड़ी रेखाओ को एकत्र करेंगी. उसमें से पुनः आकार उभरने लगेंगे और पहला आकार देखकर मैं बोल उठूँगा: 'मृणाल ?'

बत्तीस

मेरी यह देह पुरातन स्मृतियों को पढ़ने बैठ गई है. ईश्वर की अनाड़ी अंगुली की अस्थिरता देह को पुनः चंचल कर देती है. आदिकाल के उस पानी और प्रकाश का मिलन पुनः मेरी देह में घनीभूत हो उठता है. शिशु-सदृश्य पृथ्वी के आनन्द–चित्कार जैसी झूमती हुई आदि अरण्यों की शाखाएँ मेरी देह को झुला रही हैं. देह के कोने–कोने में इस अरण्य के पशुओं की दहाड़ें गूँज उठती हैं. समूचे अंगों को घुमाकर आकाश की ओर फेंकती हुई यह उद्धत उत्तुंगता मेरे लहू को उछाल रही है. नदियों के कौमार्य को भंग करता, समुद्र का कामोद्वेग मुझ में छलक उठता है. उन्चास मरुत, अग्नि, वरुण और पर्जन्य मेरी काया के विहार क्षेत्र में एक साथ विचर रहे हैं. शरीर के कोष में धातुओं का प्रथम स्मित चमक रहा है. सूर्य के प्रथम स्पर्श की उत्तप्तता का नशा मेरी देह को उन्मत्त बनाये जा रहा है, चन्द्र की माया का ज्वार उसे भिगोकर तर-ब-तर किये डाल रहा है. एक साथ कितने ही किन्नरों, विद्याधरों, गंधर्वों का नृत्य–संगीत मेरी शिराओं में अनुगुँजित हो रहा है. युद्धों की स्मशान भूमियों का सूना हाहाकार मेरे कानों में गरज उठता है. किसी कुंज में वन–देवता की छत्रछाया के नीचे विश्रंभ में किये हुए प्रथम भीरु प्रणय का चकित दृष्टि–निक्षेप मेरी आंखों में चमक उठता है. मेरे शरीर में गरुड़ के पंख फूट रहे हैं. थोड़ी देर के लिए वह गहरे कुएं के अतल में शीतलता प्राप्त करते हुए राहत की साँस लेता है; पर दूसरे ही क्षण वह विशाल मैदानों पर होकर बहती हुई लू के सदृश्य गरम निःश्वास छोड़ता है. मेरे हाथ अनेक बार जुड़े हुए हाथ की स्मृति से उत्सुक हो उठते हैं. महानगरों के राजमार्ग, रेल्वे

प्लेटफॉर्म, बाग-बगीचे, सूनी गलियाँ, झुके झरोखे, नजर गड़ाकर देखनेवाली खिड़कियाँ—यह सब बगूले की तरह घूमने लगते हैं. उसके बगूले के साथ मरण भी ऊपर चढ़कर चक्राकार रूप में घूमने लगता है. सब धुँधला हो जाता है. शरीर की सीमाएँ भी जैसे उड़–उड़ करने लगती हैं. फिर मानो आदिकाल के इस शून्यावकाश में एकाकार हो जाने की आशा बँधती है. तब एक हाथ का स्पर्श होते ही सब कुछ क्षणभर में शमित हो जाता है. देह वर्तमान में जाकर स्थिर हो जाती हैं. ओंठ पुनः रट लगाना शुरू करते हैं : ' मृणाल '.

तैंतीस

लुप्त हो चुके किसी प्राचीन नगर के खण्डित प्रवेश द्वार की तरह मैं खड़ा हुआ हूँ. वर्तमान के व्यवहार से मैं दूर हूँ. मेरी मेहराबों के नीचे से कोई गुजरता नहीं है. पैदल, हयदल और गजदल की प्रतिध्वनियाँ अब शांत हो गई हैं. संसार मुझको दर-किनार कर के चला जाता है. इतिहास स्वयं किसी पुरानी पोथी के पन्नों की तरह उड़ गया है. मैं सबकुछ देख रहा हूँ. पवन मेरी शून्यता के कोटर में घुसकर ठिठोली करता है. सूर्य ने मेरी अरुणाभा भी फीकी कर दी है. वर्षा की बूँदें मेरी खिसकती कँकरियों को गिनती जा रही हैं. कोई मेरी परछाईं अपने ऊपर नहीं पड़ने देता है. मेरी भंगुरता से सब घबराते है. अस्त वैभव का यह उद्‌गार किसी के कानों मे नहीं पड़ता.

होते हुए भी न होने की यह स्थिति मुझे यहाँ जमाये हुए है. काल की अंगुलियों की छाप पढ़ने के लिए कभी कोई आ चढ़ता है. थोड़े राजा-रानियों के नाम लिए जाते हैं. कभी कोई सर्कस का हाथी पास से गुजरता है तो मैं भ्रम मे पड़ जाता हूँ. रात को जब सब सुनसान हो जाता है तो दूर के दूसरे खण्डहर में रहने वाले प्रेत का हूहकार मुझ में रहने वाली थोड़ी प्रतिध्वनियों को झिंझोड़ देता है. गर्मियों की दुपहरी में जब मृगजल की लहरें छलकने लगती हैं तब मै मृगजल पर झूलने लगता हूँ. पर मृगजल मुझे डुबा नहीं सकता है. अंधकार में भी मेरी रेखाएँ मिटती नहीं है. नमिता की अन्य-मनस्क दृष्टि क्षणभर के लिए कबूतर की तरह मेरा आधार ढूँढती है. मैं निमित्त हूँ, लक्ष्य नहीं; साक्षी हूँ, सहभागी नहीं.

कभी-कभी काल यहाँ हाँफते-हाँफते घुटने मोड़कर बैठ जाया करता है. मेरे पोलियन में इसके स्वगत-कथन के प्रतिघोष गूँजते रहते हैं. मरण उन्हें कान लगाकर सुनता रहता है. मध्यरात्रि में, वह बीता हुआ समय जीवित हो उठता है. हाथी के हौदे पर बैठकर राजा जाता है, पीछे होती है उसकी रूपमती रानी. नर्तकियों के नूपुर छमक उठते हैं, तबले की थाप सुनाई पड़ती है. मैं अनेक पद-रव सुनता हूँ. उनमें से एक पद-रव को मैं पृथक करने का प्रयत्न करता हूँ. एकाएक हृदय धड़कने लगता है. वह बिलकुल पास आ जाता है. मैं बोल उठता हूँ : 'ठहर जा न, मृणाल !'

चौंतीस

प्रकट होने वाले दिन का भार अभी से वातावरण में झूल रहा है. उसके कारण वृक्षों के मूल बहुत गहराई तक काँप रहे हैं. फूल की कली भी अपनी नोंक पर उस भार को झेल रही है. मुझमें बैठे हुए मरण के कंधे भी उस भार से झुक गये हैं. वह भार झरोखे पर झुक कर खड़ा है. झरोखे के दूसरे छोर पर नमिता भी शायद मेरी तरह इस भार को झेलती हुई खड़ी है. इस भार के नीचे दबकर अंधकार पतला पड़ता जा रहा है. पंछियों की चहचहाट के अंकुर अभी से हवा में फूटते लग रहे हैं. सुदूर समुद्र की सतह इस भार से दुहरी होती लग रही है.

प्रभातवेला में ही ईश्वर का घाव खुला पड़ जाता है. उसकी ललाई को वह ढक नहीं पाता है. सूर्य अपनी किरणों की अनी उस पर घिसता हुआ प्रतीत होता है. वायु-लहरी में ईश्वर के निःश्वास की नमी होती है. उसके भार से तृण-दल झुक जाया करते हैं. पर ईश्वर के पास अधिक आँसू नहीं हैं. इसलिए प्रभात का सूर्य नीचे झुककर सारे ओसकण इकट्ठे करके पुनः ईश्वर को सौंप देता है. कभी-कभी किसी फूल की पंखुरियों में ईश्वर का एकाध आँसू छिपकर रह गया होता है. मंदिर के घंटे के पोलेपन में ईश्वर की वेदना गूँज उठने की इच्छा करती है. पवन कहीं इधर उधर इस घाव की चुगली न करता फिरे अतः ईश्वर उसे पटाता है, फुसलाता है. ऐसे क्षणों में उसकी आवाज भी सुनाई पड़ती है.

इस वेला में दुःस्वप्नों की भूतावली दबे-पाँव लुकती-छिपती चली जाती होती है. बंद दरवाजों की दरारों में से लोगों की नींद धीमे कदमों से

सरकने लगती है. इस प्रहर में मुझमें बैठा हुआ स्मृतियों का अजगर हल्के से हिलता है. उसकी निष्पलक आँखे जरा सी खुलती हैं. शायद स्वयं का भार हल्का करने की इच्छा करता है. पर लुच्चा मरण कनखियों से उस पर पहरा देता रहता है.

अंधकार के घटने पर तमाम रंगों के मुँह खिलने लगते है. फिर भी कुछेक रंगों पर निःश्वास की झांई है, कुछेक रंग आँसू से धुले हुए हैं. ये तो सूर्य का स्पर्श होने के बाद ही नेपथ्य से बाहर जायेंगे. फूलों की बंद पँखुरियों के बीच सूर्य का निमंत्रण घूम रहा है. पवन कान देकर उसे सुन रहा है.

पर नमिता तू जिन दो-तीन शब्दों को बोल सकती थी, क्यों नहीं बोली ? अब तो शांति अपनी सलवटें समेटकर चलने की तैयारी में लगती है. मनुष्यों के कोलाहल में तेरे ये नाजुक शब्द बाहर नहीं निकल पायेंगे. अब तेरे ओंठ इन अनबोले शब्दों के भार के कारण बन्द हो जायेंगे. इसीलिए तो रात्रि के शेष प्रहर में मैं भी साहस करके ओंठ खोलकर बोल देता हूँ. 'मृणाल ! '

पैंतीस

प्रभातवेला के समय क्षीण होता जाता निद्रा का प्रवाह अंधकार में मिलकर धीमे-धीमे उतरने लगा है. सुधीर अभी-अभी आया लगता है. वह मेधा को झकझोरता है. मेधा मानो कई जन्मों जितनी दूर निकल गई है. वह पुनः लौटने का प्रयत्न करती है. पर सुधीर बेचैनी पूर्वक उसे अपने बाहुपाश में लेकर भींच लेता है. सुधीर के अंगों से जकड़ी हुई अतृप्त उच्छिष्ट हवा का स्पर्श मेधा को अकुला देता है. वह किसी गहरी संज्ञाहीनता में उतर जाने की इच्छा करती है. मैं भी कई बार ऐसी ही संज्ञाहीनता के प्रलोभन की ओर आकृष्ट हो चुका हूँ. पर ठेठ डूब जाने की पराकाष्ठा पर होता हूँ तभी मरण धक्का देकर मुझे सतह पर ला देता है. फिर से सृष्टि प्रारंभ होती है. आदिकाल के उन अरण्यों के प्रवेशद्वार पर मैं खड़ा रहता हूँ. सरिसृपों के टोलों को गुजरते हुए देखता हूँ. सबकुछ निःशब्द है, गति नहीं है पर गति का अस्थिपंजर है. ध्वनि नहीं है, उसकी विलीन होती जाती रेखामात्र है. पर्वत के ऊँचे शिखर की चोटी पर लरजते शून्य की नीरव चीख से सब कुछ हिल उठता है. मेरे हाथ पानी की तरह फिसलने लगते हैं. आँखें आकाश की निःसीमता में उड़ जाती हैं. पैर किसी सौ साल पुराने वृक्ष के मूल से लिपट जाते हैं. हृदय अपने कोटर में अकेला बैठा रहता है. यहाँ किसी बहुत विशाल पक्षी के लाल नख उस कोटर को कुरेदते हैं. हृदय काँप उठता है. उसे पता है कि नखों के पैनेपन के सामने टिक पाना संभव नहीं हैं. पक्षी अपनी चोंच पैनी कर रहा है. उसकी आँखें घूम रही हैं. उसके पंखों के झापट सुनाई दे रहे हैं. हृदय सिमटकर केवल शून्य जैसा रह जाता है. पृथ्वी की प्रचण्ड

परछाईं के नीचे वह थरथराता है. कोटर का आवरण फट जाता है. चोंच की पकड़ में दबाये हुए हृदय को लेकर पक्षी उड़ जाता है. शताब्दियों के अरण्यों में होकर वह उड़ जाता है. कदाचित् अब मुझमें हृदय नहीं धड़कता है, जो है वह उस पंछी के पंखों की ही आवाज है. कभी–कभी यह आवाज धीमी पड़ जाती है, तब आशा बँधती है मानो उसकी चोंच की तीक्ष्ण पकड़ ढीली पड़ रही है. आँखें निःसीमता को अपने में समेटकर वापस लौट रही हैं. मेरे दोनों चरण कोई नया लय सीखकर वापस लौट रहे हैं. मेरे हाथ किसी नये से स्पर्श से रोमांचित होकर वापस लौट रहे हैं. तब फिर से वाणी प्रकट होती है. उसका पहला उच्चारण है : मृणाल.

छत्तीस

सामनेवाले बाँसों का जाल पवन में हिल रहा है. उसकी परछाईं की आकृति दीवाल पर अंकित हो गई है. वह किसी जापानी चित्रकार के चित्र जैसी लगती है. न जाने क्यों मैं उसे सहन नहीं कर पाता हूँ. पर उसे दीवाल पर से किस तरह मिटाया जाय ? उन पीले बाँसों में पीले पट्टेवाले बाघों के टोले रहते हैं. कहीं उनमें औंधा लटका हुआ अजगर है. उनमें कहीं मेरा बचपन फँसा गया है. उसके आसपास झीनी काईवाले पानी की नदी है. पास में पंछियों का समूह है. उन बाँसों की शिराओं में चंचल आग की आँखें लपकारें मारती हैं. बाँस डोल रहे हैं. समूचा वन मानो चल पड़ा हो. अभी हाल जैसे शहर के ऊँचे महलों को भेदकर बाँस फूट निकलेंगे. नवजात शिशु की आँखों में बाँस के से अंखुवे फूट पड़ेंगे, रास्ते बाँसों में गुम हो जायेंगे. देखता हूँ कि मेरे मरण पर बाँस कट्टे होकर चलने लगे हैं. उन दो पैरों के मध्यस्थित विवर में एक छोटी सी गुफा है. उस गुफा में कहीं से थोड़ा-थोड़ा पानी झरता रहता है. उस झरते हुए जल को कोई जीभ निकाल गटक रहा है. उस गुफा में हजारों वर्षों से तप करता हुआ कोई जोगी बैठा है. हजारों वर्षों से उसकी धूनी धधक रही है. यह जोगी अपनी जटाओं में अदृश्य बनकर रहता है. पर उसकी आग मुझे उन्मत्त बना देती है, उसे शांत करने के लिए अभी कोई कुआ नहीं मिला है. यह बूँद-बूँद झरता जल पर्याप्त नहीं है. मुझको तो उसकी बूँद भी कहाँ उपयोग में आती है ! यह आग, यह जटा का विस्तार, यह गुफा और इसका अंधकार,—इस सब के कारण मैं उस बाँसवन का बाँस बनकर चल रहा हूँ. कहीं नदी साथ छोड़ देती है. कहीं समय भी किसी महादेव के

घंटे में गूँजता सुनाई नही देता है. पर वन चलता है. शहर वन में बदल जाते हैं. मनुष्य वृक्ष बनते हैं. मेरे मध्य कितनी ही पगडंडियाँ विलुप्त हो जाती है. सुबह के हलके सलोने अंधकार में इन बाँसों में अँखुअे फूटते हैं और मुझे शूल उठती हैं. इस शूल से विद्ध होकर मैं निसाँसें छोड़ता हूँ. इन निसाँसों से बाँसों के पत्ते हिल उठते हैं. और तुरन्त ही हजारों पंछियों का झुण्ड पंख फड़फड़ाकर कहीं उड़ जाता हैं. दूर जाकर इन्हीं पंखों का एक सागर बन जाता है. दूर से इन पंखों का हिलना लहरों की उछालों जैसा प्रतीत होता हैं. उनके उछलने के लय में डोलने लगता हूँ. इस डोलने के कारण मुझमें रह रहा मरण बड़बड़ाता है. मैं अपनी साँसों में इस बड़बड़ाहट को सुनता हूँ यह मेरे कानों मे बजती है. इसलिए मैं दीवाल पर की आकृति पोछ डालने की इच्छा करता हूँ. घबरा उठे भीरु श्वास की पाँखें इकट्ठी कर आँखें बद कर उसे शांत करने की इच्छा करता हूँ पर वह बाँसवन चलता ही रहता हैं, वे पंछी उड़ते ही रहते हैं. मैं घबराकर चीखने लगता हूँ शताब्दियों के अतराल के बीच यह चीख खोखली तथा दीमक लगे शब्द के खोखे जैसी पड़ी रहती है. उसके भीतर से चींटियों की हार बाहर निकलना शुरू होती हैं. मैं उस हार को लम्बाती हुई देख रहा हूँ शायद उसके दूसरे छोर पर सूर्य होगा ऐसा भास होता है.

सैंतीस

नमिता, तू आँखें बंद मत करना. मेरी तरह उन्निद्र और निष्पलक ही बनी रहना. तुझे पता है आँखें बंद करने के साथ ही अपने भीतर कितने दुःस्वप्न प्रवेश कर जाते हैं ? फिर तो यह तेरी सुकुमार देह भूतप्रेतों की चिचियाहट से भरा हुआ एक अरण्य बनकर रह जायेगी. उस अरण्य का कोई भूगोल नहीं होगा. उसकी सारी भूमि अक्षुण्ण रहेगी. उसमें केवल अंधकार के शाखा-पत्र ही बढ़ते जायेंगे. फिर उसमें न सूर्य उदित होगा न चन्द्र. साँसें भोपे की डुगडुगी की तरह बजेंगी. प्रेम तो प्रेत की तरह विवर की तलाश में छिपता फिरेगा. तेरे द्वारा सँजोकर रखे हुए दो मीठे स्मरण वृक्षों से घिरी हुई किसी अष्टकोणी बावड़ी की अतल गहराई में गलते जायेंगे. नमिता, तू इन दो पलकों को मिलने मत देना. इनके किनारे पर सूर्य को झेलना पड़े तो झेलना. आँखें चन्द्र-शूल से बिंधती हों तो बिंध जाने देना. पवन की ठगोरी अंगुलियाँ उन्हें फुसलावें तो सावधान रहना. मेरी आँखें खुली होंगी तो किसी दिन तू दृश्य और अदृश्य को मिला सकेगी.

अड़तीस

हाश, अब ये लोग ऊँघ के गंधाये घूरे के नीचे अघा गये लगते हैं. इस घूरे में कहीं शराब के डब्बे भरे हैं, कहीं सिगरेट के अधजले टुकड़े धुआँ उगल रहे हैं. उसमें रह-रह कर काट लगे पत्तरों जैसी आवाजें खड़खड़ाया करती हैं. उसमें दो चार कीड़े नारी के जंघा-प्रदेश पर फिसलते कामुक के हाथ की तरह सरका करते हैं. पवन कुछ रंगीन कागजों जैसे स्वप्नों के साथ चुहलबाजी करता है. फेंके हुए बासी फूलों के सदृश कुछ चेहरे भी उसमें से झाँकते रहते हैं. किसी आसुरी माँ के गर्भ सदृश इस घूरे में भी रह-रह कर कुछ स्फुरण होता रहता है. कोई दैत्य शिशु अधूरा जन्म लेने की उतावली में गर्भ के भीतर हाथ पैर पटक रहा है. दुःस्वप्नों के अंकुर फूट रहे हैं. गीले कागज जैसी लथपथ वासनाओं का ढेर कहीं पड़ा-पड़ा गंधा रहा है. श्मशान की राख के समान स्पर्श की कुछ किरचें इधर-उधर छितरी पड़ी हैं. कभी-कभी उसके उथलेपन से कोई निःशब्द चीख बाहर निकलने के लिए जूझती रहती है. चींटियों की हार कण-कण के रूप में उसके मरण को एकत्र कर रही हैं. अचानक खुला पड़ गया अंधकार जल्दी-जल्दी कोई आश्रय खोजकर उसके पीछे छिप जाता है. बीच-बीच में कोई अन्धा जन्तु भटके हुए दो चार निर्दोष शब्दों के पंखो को उलट-पुलट कर रहा है. कभी-कभी उसमे सजीव होकर दो चार आँखे कुछ देख लेने के लिए जूझती हैं, पर वे पलक झँपे न झँपे उसके पहले तो तले में कुण्डली मारकर बैठा हुआ नाग अपनी विषैली फुफकार से उन आँखों को अंधी बना देता है. इस ऊँघ का छोर पाताल तक नहीं पहुँचता है इसलिए सदा के लिए लुप्त हो जाने की कोई आशा नही है. सूर्य उसे जलाता नहीं है, जल उसे स्पर्श नहीं करता है, किसी आदिम अष्टावक्र पशु के उभरे हुए स्कंध जैसे ये लोग अब इस ऊँघ के घूरे में अघा गये हैं.

उनतालीस

मैं मरण को ललचाता हूँ. चल अपन वधस्थल पर चढ़ जायें. मेरे साथ तू भी पूजनीय हो जायेगा. चल अपन अग्नि शैया पर सो जायें, मेरी तरह तू भी अपनी निष्पलक पलकों को बंद कर लेगा. चल अपन प्राचीन काल के किसी विस्मृत महालय की तरह नीचे दब जायें, मेरी तरह तू भी अदृश्य हो जायेगा, चल अपन तितलियाँ बनकर पवन में लुप्त हो जायें, मेरी तरह तू भी अशरीरी बन जायेगा. पर यह सुनकर धूर्त मरण अट्टहास करता है. उसके अट्टहास की कर्कश आवाज से कहीं नमिता चौंक न उठे इस भय से मैं उस आवाज को अपने में छिपा लेना चाहता हूँ, पर अंधे चमगादड़ की तरह यह गोलाकार रूप में मेरे भीतर घूमती ही रहती है. मरण को अपने भीतर पालने-पोसने का यह परिश्रम असह्य हो उठता है. पर इस भार को गलाकर रख दे ऐसा किसी का वास्तविक क्रोध भी मेरे देखने में नहीं आया है. नकली पैसों के जंग लगे सिक्कों जैसे उधार लिए प्रेम के दो शब्द अभी पूरी तरह ज़हरीले नहीं बन सके हैं. कोई वासना भी अभी किसी विकराल पशु के समान उग्र हिंसकता नहीं सीखी है. इसलिए नख-दंत हीन अंधे राक्षस के सदृश्य मैं अपने नपुंसक क्षोभ से मरण को सहला रहा हूँ. उग्र शाप को सहर्ष स्वीकार कर लेने जैसा कोई पाप भी मैं पाल नहीं सका हूँ. मेरी सामान्यता की गोद में यह सामान्य मरण पल रहा है. उसके ठूंठे हाथों की अंगुलियों में कोये फूटने के संकेत मिल रहे हैं. उसकी निष्पलक आँखों की भीतरी ललाई की चमक अब बढ़ रही लगती है. उसकी फुफकारें अब मेरी भावनाओं के वन को सुखाती जा रही है. प्राचीन खण्डहर में चूहे और उल्लू की तरह हम एक दूसरे की आँख बचाकर रहने के लिए जूझ रहे हैं. पर अभी हाल ही जल उठने की स्थिति में पहुँचे फॉस्फोरस जैसी उसकी आँखों ने मुझे खोज लिया है. यह मैं जानता हूँ अस्तु मैं उसे ललचाता हूँ, फुसलाता हूँ, किन्तु—

चालीस

ईश्वर के मन की किसी घनीभूत शंका की तरह झूलती हुई यह रात धीमे-धीमे ओस कणो के नन्हें चरणों से चलना प्रारंभ करे उसके पहले, मृणाल ! मुझमें बसी हुई एक परछाई को पालने के लिए मै तुझे सौंप देना चाहता हूँ. इस दान के लिए यही एक उत्तम मुहूर्त है. इस अंधकार से प्लावित प्रकाश में तू केवल मुझे एक आकृति रूप में ही देख सकेगी, व्यक्ति-रूप में नहीं. मैं भी तेरी आँखों के रहस्य को देख नहीं सकूँगा. तू शायद यह जानती नहीं, लेकिन परछाई को पालापोसा जा सकता है. पर इसे हृदय से लगाकर रखोगी तो ही यह पालीपोसी जा -सकेगी. इस ससार में जी कर मैंने यह अनुभव लिया है कि यहाँ व्यक्त होने की अपेक्षा अव्यक्त रहने की अधिक आवश्यकता होती है. इस परछाई की ओट मे तेरा जो गुह्य होगा वह अधिक गुह्य बनेगा. इसकी शीतल छाया मे तू अपने दो चार प्रेम-पात्र शब्दों को निश्चिन्तता पूर्वक रख सकेगी. तुझे प्राप्त हुआ ऐसा एक नाम भी जिसे अपने ओंठों पर लाने का साहस तुझे नहीं करना हो तो तू उसे सरलता से इस परछाईं में छिपा देना. तेरे अश्रुओं की अंतःस्रोता फल्गु के किनारे जब इस परछाईं का झुरमुट फैलेगा तो विषाद का चेहरा भी खिल उठेगा. और तू तो जानती ही है कि परछाईं को पानी पोंछ नही सकता है. यह परछाईं उल्टी नहीं है. सीधी नहीं है. चाह भरी नहीं है, अनचाही नहीं है. यह परछाई किसी की आकृति की चुगली नहीं करती है. तेरे एकान्त पर वह अपना झुरमुट विस्तारेगी. तेरे पीछे-पीछे फ़िरने की उसकी आदत नहीं डाली है. तू उसे बिलकुल भूल जायेगी तो वह करुणाकलित चेहरे से तेरी ओर देखती नहीं रहेगी. तू स्वयं ही

किसी समय उस परछाईं को आवेश में चूमकर गुलाबों का वन खड़ा कर देने के लिए ललचा जायेगी. पर वह परछाईं तो निःसंग है, तटस्थ है. तेरे अनचाहे वर्ष उसे सौंप देना. ये वर्ष परछाईं के साथ परछाईं के समान हो जायेंगे. उस परछाईं का कोई भार नहीं है, वह शीतल है पर उसमें आँसू की आर्द्रता नहीं है, यूँ तो वह सूरजमुखी के फूल से ही झरी हुई एक पंखुरी है, पर वह कण-कण होकर बिखरेगी नहीं. वह तेरे हृदय के पास रहेगी, पर उसे ढँक नहीं देगी. तेरे जाहिर हो जानेवाले स्मित के लिए वह तेरे मन को के अनुकूल आवरण बनकर रहेगी. मृणाल, वह परछाईं सूखकर नष्ट हो जाय उसके पूर्व मैं उसे तुझे सौंप देना चाहता हूँ. समुद्र की लहरें उछलकर पुनः अपने ही पानी को देखती है उसी तरह तू भी केवल अपने को ही देखती है, यह मैं जानता हूँ. पर यह परछाईं तेरे दृष्टि-पथ में बाधक नहीं बनेगी. तू उसे सींचेगी तो शायद शनैः शनैः वह तुझे प्रिय लगने लगेगी, पर वह तुझसे सम्बन्धित प्रेम का ही निमित्त बनेगी, कारण कि परछाईं के बाहुपाश में तो कोई बँध नहीं पाता है.

इकतालीस

कभी-कभी साँस की सीमा रेखाएँ जहाँ पूरी होती हैं उसके पार का संसार मेरी आँखों के आगे झिलमिलाने लगता है. वहाँ अभी उद्‌भिज का जन्म भी नहीं हुआ है. सूर्य और चन्द्र अभी जन्म के समय की झिल्ली में लिपटे हुए हैं. मरण पृथ्वी पर उड़ती रजकण में बिखरा हुआ है. अभी उसने आकार ग्रहण नहीं किया है. दुःसाहस के कारण निकले हुए शब्द को समेटने के लिए ओंठ जिस प्रकार जल्दी बंद हो जाते हैं उसी तरह प्रकट हो चुके समुद्र को उसके किनारे अपने में बन्द कर लेना चाहते हैं. पृथ्वी को अभी जल का ऐसा कुछ घनिष्ट संपर्क नहीं हुआ है. यह उस अबोध कन्या की तरह फूंदी का खेल खेल रही है जो यौवन को नहीं पहचानने के कारण उसके उद्गम को ढँकना नहीं जानती है. पवन अभी बोलना नहीं सीखा है. समुद्र के सम्पर्क से उसने अभी थोड़े स्वर अथवा उद्गार ही सीखे हैं. पर्वतो के साथ टकराकर वह थोड़े व्यंजन सीखा हैं. पर्वत भी अपनी उत्तुंगता को विस्मय से देखते रह गये हैं. समय एक कुंवारी अपरिमेयता मात्र है. पत्थरों के मुँह पर से अभी नक्षत्रो की आभा पूरी तरह अदृश्य नहीं हुई है. कहीं-कहीं शिशु की तोतली वाणी की तरह तारे ठेठ क्षितिज तक झुककर पृथ्वी के कान में कुछ कहा करते हैं, पर वह मर्म-विहीन वाणी है, वह केवल श्रवण-सुख के लिए है. पृथ्वी ने अभी शताब्दियों से पड़े हुए विशाल चक्राकार दीर्घ भ्रमण-पथों को देखा तक नहीं है अभी उसकी उम्र ऐसी भी नहीं हुई है कि वह ठगी-सी रह जाय अथवा अकारण परेशानी में पड़ जाये. उसने स्वप्न तक छिपाकर नहीं रखे. वे तो झरने बनकर दौड़ पड़े हैं.

पर मृणाल, यह तो क्षणभर का मोक्ष. मै फिर से हजारों युद्धों के रक्त-कर्दम को रौंदता हुआ इस ओर चला आता हूँ. कितने ही राज-प्रासादों के खोखले गवाक्षों में से होता हुआ चला आता हूँ. वहाँ अब किसी रूपमती की वीणा झंकृत नहीं होती. हजारों विकलांग देवी-देवताओं के समूह में से होकर चला आता हूँ. आशीर्वाद देने के लिए तत्पर देवता के हाथ की पाँच अंगुलियाँ भी मै एकत्र नहीं कर पाया. महानगरों में विष के फुहारे उड़ रहे हैं. चीखों के वन ऊग आये हैं. छायाहीन वृक्ष ईश्वर के हाहाकार जैसे खड़े हैं. समुद्र, ज्वर से धधकते कपाल पर रखी गीली पट्टी जैसा है. थककर गिरे हुए किसी वृद्ध पंछी जैसे चन्द्र को सरोवर के जल ने झेल रखा है. सूर्य तेजाब में डुबाये खोटे सिक्के के समान चमक रहा है. मैं मूक मनुष्य के कण्ठ की अनुच्चरित वाणी की तरह असंख्य मनुष्यों की भीड़ में से होकर चला आता हूँ. मेरा जीव विषाद के तहखाने का भीनापन खोजता हुआ किसी आशा से तेरे सामने आकर रुक जाता है.

बयालीस

मुझे मेरे ही मेरुदंड के यूप के साथ बाँध दिया गया है. पवन, भावावेश में झूमते हुए किसी भोपे की तरह मेरे चारों ओर घूम रहा है. समय लाल चींटियों की कतार की तरह अपने एक-एक लाल चटके के साथ मेरा थोड़ा-थोड़ा मांस कुरेदता जा रहा है. समय द्वारा किये हुए छेद में मधुमक्खियाँ अपना थोड़ा-थोड़ा शहद भरती जा रही हैं. मेरे अंगों में इनके दंश की निर्धूम अग्नि प्रकट हो उठती है. पूर्व में किसी विराटकाय मुर्गे की चोंच में से टपकते रक्त-बिंदुओं की तरह प्रभात प्रकट हो रहा है. सूर्य और चन्द्र इकट्ठे करके कोई झाँझ बजा रहा है. नदी का जल एक सुमधुर मंत्र जपता रहता है. पास के पीपल के वृक्ष में छिपकर कोई ढपली बजा रहा है. थोड़ी ही देर में न जाने कहाँ से असंख्य अशरीरी छायाओं की टोली बाहर आकर चक्राकार घूमने लगती है. मेरे भीतर बैठा हुआ मरण अपने ठूंठे हाथों से ताली बजाने का प्रयत्न करता है. सब उस देव अथवा असुर की प्रतीक्षा में हैं जिसके सामने मेरी बलि दी जानेवाली है. अपनी चेतना को खींच-खींचकर संज्ञाहीनता की स्थिति तक ले जाता हूँ. वहाँ किसी की विराटकाय परछाईं सब कुछ ढँक देती है. उसके बढ़ते चरणों की पदचापों से पर्वत-पर्वत अनुगुँजित हो रहा है. जल एक ही साँस में मन्त्र का जाप कर अब हाँफ रहा है. मेरी आँखों के कोटरों के भीतर से भय की भीड़ बाहर निकल कर भागना आरंभ कर देती है. बूँद-बूँद प्रकटता प्रभात सर्वत्र फैला नहीं है. इसलिए वह विराटकाय परछाईं अभी सर्वत्र पसरी हुई है. थोड़ी देर थमकर पवन अपनी हजारों जिह्वाओं से मेरे रंध्र के भीतर का शहद चाटना प्रारंभ

करता है. मुझे इसके साथ ही ऐसी आशा बँधती है कि मेरी काया अस्थिपंजर से अलग होकर उड़ जायेगी. पर एकाएक वह विराटकाय परछाईं किसी प्रचण्ड जटायु का रूप धारण करके अधिक निकट सरक जाती है. उसके पंखों की झापट से मेरी श्वास उड़-उड़ होने लगती है, पर तुरन्त ही टकराकर लौट पड़ती है. उस जटायु की स्थिर आँखों में मुझे मेरे विषाद का प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है. मैं मुक्त हो जाता हूँ. क्षणभर के लिए उसकी चोंच द्विधाग्रस्त रहती है पर फिर तुरन्त ही अपने नखों की सहायता से वह मुझे समेटकर ऊपर उठा लेता है. और वह उड़ता है, उड़ता है, उड़ता है ——

तैंतालीस

इस घर की परछाईं ही घर को लील गई है. यह क्षण ही अनिश्चितता का क्षण है. दृष्टि एक कदम आगे बढ़ने के साथ ही अनिश्चितता से टकराकर खड़ी रह जाती है. वृक्षों का आभास झाड़ों में जम गये फव्वारों जैसा लग रहा है. केशराशि को बिखेरकर खड़ी नमिता किसी वृक्ष के जैसी लग रही है, उसके बालों के शाखा-पल्लव फैलने लगते हैं. उस वृक्ष का फल कहीं ढँका हुआ है. उस वृक्ष के काले फूलों के गुच्छे मेरे चारों ओर महक उठते हैं. दूर के समुद्र का आभास किसी मायावी यवनिका सदृश्य लगता है. उसके हटने पर कौन जाने कैसा विश्व उसके पीछे से प्रकट होगा? चन्द्र किसी दंतहीन वृद्ध देव के मुँह में से लुढ़के हुए खण्डित व्यजन जैसा लगता है. समय के इस क्षण में सम्पूर्ण सृष्टि 'हाँ' और 'ना' की निश्चितता की सीमाओं से दूर सरकी हुई लगती है. जल में पृथ्वी की अपारदर्शक घनता है. पृथ्वी में आकाश की वास्तविकता है. पवन में किसी के अचंचल बालों की सान्द्र सघनता है. तारे अस्पष्ट विराम चिह्नों की तरह यहाँ वहाँ छितराये हुए हैं. अर्ध प्रकट ईश्वर भी कहीं, जुही की कली की ओट में खोल बदल रहा हो ऐसा भास होता है.

मृणाल, शायद इस अनिश्चितता में ही तेरे आँसुओं का कंठ खुल जाय और ऐसे उल्लास का गीत गूँज उठे जो तेरे लिए अपरिचित हो. ऐसी ही अनिश्चितता में शायद तेरा तिरस्कार प्रेम के रूप में खिल उठे ऐसी अनिश्चितता में अपने अधपोंछे चेहरे के पीछे ढँके हुए अपने नाम को कोई अन्धा खोजता फिरता है. ऐसी अनिश्चितता में ही मरण को दिग्भ्रमित करके उसे उल्टे मुँह निकाला जा सकेगा. ऐसी ही अनिश्चितता में शायद —पर इस 'शायद' के टूटे हुए टुकड़े मेरी जीभ में चुभ जाते हैं.

८२

इस क्षण मौन को पुराने बरगद की जड़ों में सींच देना चाहिए समुद्र के किनारे की सीपियों में थोड़े उच्चारित हो गये शब्दो को पुन पूर देना चाहिए. अभी पवन फाँसी पर चढ़े हुए शव की तरह अधर लटक रहा है. तब तक इस अनिश्चितता का जो करना हो कर लेन चाहिए.

चवालीस

प्रभात का प्रकाश प्रकट हो उसके पहले कहीं से कुछ आकर छप से मुझसे टकराता है. मैं गलता जा रहा हूँ, बहता जा रहा हूँ और व्यापक होता जा रहा हूँ. पृथ्वी के अंतरंग में प्रवेश करता हूँ और धातुओं के कोमल शैशव को देखता हूँ. केवल प्रथम बुद्बुद् के रूप में आरंभ होने वाले ज्वालामुखी का शिशु-मुख देखता हूँ. धरती के उदर में चल रहे हल्के स्फुरण के समान धरती-कम्पको देखता हूँ. धरती में पोषण के लिए छोटे बच्चों के लम्बाये हुए हाथों के सदृश्य असंख्य मूल देखता हूँ. इस अंध विशालता में फँसा हुआ एक उत्तप्त उच्छ्वास मुझे स्पर्श करता है. मेरी आँखें पृथ्वी तल में गड़े हुओं के असंख्य अस्थिपंजरों के निबिड़ वनों में भटक जाती हैं. सूर्य-मंडल से पृथक हुई पृथ्वी की वेदना मुझे कहीं हड्डियों को गला देनेवाला स्पर्श दे जाती है. स्निग्ध अंकुर पृथ्वी की पर्त को भेदकर सिर उचकता है. उसके साथ मैं पुनः ऊपर आता हूँ. मेरे पीछे एक हल्का-सा निःश्वास है जैसे कोई मुझसे विदा ले रहा हो. मरुत के कंधे पर बैठकर मैं ऊपर चढ़ता हूँ. उड़ता हूँ. निद्रा के अंतिम अंश को लेकर अंतरिक्ष के राजहंस ऊपर ऊड़ जाते हैं. उनके पंख मेरी साँसों से टकराते हैं और उनमें के थोड़े-से स्वप्न बिखर जाते हैं. निद्रा का सफेद अपारदर्शक रंग मुझे घेर लेता है. पर एक बादल के अभ्यंतर में सूर्य का अंगुलि-स्पर्श है. उससे जल जाने के भय से मैं दूर भाग जाता हूँ. मुझे उषा के प्रथम स्मित की रेखा स्पर्श कर जाती है. अभी तक उसमें सूर्यास्त की झाँकी झलक रही है. मेरी अदृश्यता पर बादल का आच्छादन ढँक जाता है. उसके उस पार शायद यक्ष, किन्नर और गंधर्व हों.

शायद अंधकार का कृष्ण-वर्ण विराटकाय पंछी पंख समेटकर बैठा हो. मेरी अदृश्यता से दूसरी अदृश्यताएँ टकराती हैं. मेरे ओठों पर एक नाम आता है और तुरन्त ही वह तारों की चमक बन कर चमकने लगता है. जन्म लेते समय की प्रसव-पीड़ा की चीत्कार मेरे कानों में पड़ती है. उसके उस छोर पर ही शायद हो स्वर्ग का अटपटा भूगोल, देवी देवताओं के झुण्ड, नरक के नक्शे, उनकी थोड़ी रेखाओं को देखता हूँ. कहीं तेजाब की लपट जैसी आग दिखाई देती है फिर है निरी नीली शून्यता. उसमें से होकर मैं किसी टूटे तारे की तरह सरकता जाता हूँ. यहाँ पर भी निरी निःशब्दता नहीं. अवकाश में कहीं टीसने का निःश्वास है. सृष्टि के आरंभ से पहले की कोई वेदना अभी भी वहाँ बिना मुक्ति पाये भटक रही है. मरण रजकण की तरह मेरे भीतर से कहीं दूर जा गिरा है. शनैः शनैः किसी श्रुति को लहराती हुई देखता हूँ. उसके भीतर एक-एक आकृति की रेखाएँ दिखलाई देती है. यह कौन ? मृणाल ? ईश्वर अथवा शून्य का बुद्बुद ?

पंतालीस

अनजाने गाँव की अनजानी तलैया के कमल पर ओस की पहली बूँद टपकी है. शहर की उनींदी अधखुली आँखें खुलती हैं. चौक के बीच खड़ा एक वृद्ध कबूतरों को दाना डालता है. थकी हुई प्रौढ़ा वेश्या झरोखे में से लौट जाती है. कहीं से दिन की प्रथम पाली की घोषणा करती हुई मिल की सायरन चीत्कार उठती है. कारावास के कैदी एक लाईन में काम पर जा रहे है. हॉस्पिटल में मरण शैया पर पड़े हुए रोगियों ने और एक दिन की यातना भोगने के लिए आँखें खोल दी हैं. प्रसूति गृह में एक शिशु के जन्म लेते समय का क्रंदन गूँज उठता है. शहर के रास्ते फिर से पैरों तले रौंदानें लगे हैं. गलियों के दीपक बुझना भूलकर सूर्य के प्रकाश मे बेशरमी से फीकी हँसी हँस रहे हैं. 'बस स्टेन्ड' पर युवक-युवतियों का प्रेमालाप रुक-रुक कर चल रहा है. बरगद पर टँगी हुई वागरों को कौओ हैरान कर रहे हैं. दौड़ती हुई ट्रक के नीचे कुचलाये ला-वारिस शख्स की जानकारी पत्र का संवाददाता इकट्ठी कर रहा है. नेता दिन का प्रवचन करने के लिए नगर-गृह में घुस रहे है. विद्यार्थियों से भरी 'स्कूलबस' सराटे से जा रही है. इमली के वृक्ष के नीचे बूढ़ी भिखारिन ईश्वर द्वारा भीख में फेंके हुए एक और दिन को जुगालती हुई बैठी है. दुर्गन्धपूर्ण रासायनिक द्रव्यों से गंधाती गंदी नदी मुँह छिपाकर बह रही है. शहर उसके भीतर मुँह देखकर विभत्स हँसी हँसता है. बाग मे भूल से उग आये बाँसवन मे उद्यमी मकड़ा निष्पलक नेत्रों से बैठा है. शहर के मध्य एक निरुपयोगी सुनसान कुएँ मे एक लाश पुलिस की राह देखते हुए तैर रही है. फल, वध किये हुए पशु की तरह दूकान

में झूल रहे हैं. नाम का नकाब ओढ़कर मनुष्य फिर से निकल पड़े हैं. दो अंधे एक दूसरे का हाथ पकड़ कर जा रहे हैं. किसी पुराण पंथी ने 'लाउडस्पीकर' पर भगवान का प्रचार प्रारंभ कर दिया है. ऊँचे महल के छज्जे में बैठे उल्लूक की ऊँघ रह-रह कर उड़ जाती है. सूर्य ने सारे घूरों को प्रकाशित कर दिया है. गाड़ियों और विमानों में लोग भाग रहे हैं. इनके पीछे 'रेडियो एक्टिव' धूल दौड़ रही है. तलैया के कमल पर ठहरी हुई ओस की बूँद जल में सरक पड़ती है. एक बुद्बुद् पैदा होकर शमित हो जाता है.